भारत की एक विभूति

महर्षि दयानन्द सरस्वती

(जीवनकथा)

लेखक :-
वेदानन्द वेदवागीश

मुद्रक:—
वेदव्रत शास्त्री
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस
दयानन्दमठ, रोहतक
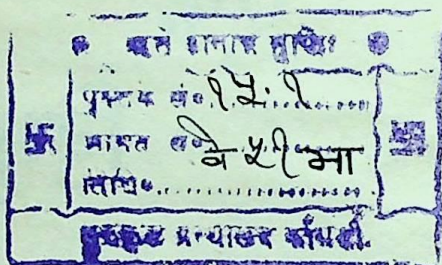
मूल्य २.२५
प्रथम संस्करण ३५००
शिवरात्रि २०२५ वि०

प्रकाशक;—
हरयाणा साहित्य संस्थान
गुरुकुल झज्जर (रोहतक) हरयाणा

ऋषि दयानन्द का मुख्य लक्ष्य यद्यपि वैदिक अध्यात्म रहा,
पर राजनीति का भी उसने, सब खोल खोलकर मर्म कहा।
फिर, कर्म-क्षेत्र में भी उसका, इस युग में रहा बोलबाला
यह प्रकट करेगी नूतन-सी, इस पुस्तक की रचनामाला॥

ओ३म्

देवर्षि दयानन्द के इन जीवन—
पृष्ठों को पढ़िये, सम्भव है,
राष्ट्र के उत्थान में आपकी भावना
भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कर जावे
और आप भी मानव इतिहास के
पन्नों में अमर होजावें ।

उपोद्घात

देव दयानन्द के अनेक जीवन चरित हमारी आंखों का विषय बन चुके हैं, जिनमें श्रद्धासिक्त लेखकों ने अपने उन्नेता को नाना-नाना रूपों में वर्णित किया है। इस प्रकार उनकी झांकियाँ विभिन्न स्थलों पर चमत्कृत हो रही हैं। कुछ वर्षों से लोगों की इच्छा थी, कि उनकी सम्पूर्ण गुणावली एक ही स्थान पर देखने को मिले। महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर (रोहतक) के तपोमूर्ति महामना आचार्य श्री भगवान्देव जी ने इस मांग को अनुभव किया और उस युगप्रवर्त्तक की एक ऐसी दैनिक चर्या प्रकाशित करने का सङ्कल्प किया, जिसमें समस्त वृत्तान्तों का समन्वय हो, सङ्क्षेप से सभी घटनाएँ आजावें और कतिपय अभिनव उपलब्धियां भी रहने न पावें। उनके इस अभिलाष को लक्ष्य में रखकर इस नूतन प्रयास का आरम्भ किया गया है इससे अतिरिक्त—

भारत स्वातन्त्र्य के लिये वे दिव्य पुरुष कितने सचेष्ट रहे, इस धराधाम को वे क्या बनाना चाहते थे। उनकी क्रियाएँ राजनय से कितनी प्रभावित रहीं। अपने काल में उस महान् सुधारक ने कितने ग्रन्थों की और कब-कब रचनाएँ कीं। उनके पश्चाद्वर्ती जनों में राजनीति और आर्षशिक्षण शैली क्यों प्रमुख रही; यह सब कुछ भी इन पृष्ठों में यथास्थान पढ़ने को मिलेगा।

पुस्तक को सर्वाङ्गीण बनाने में इसका कलेवर जितना अपेक्षित था, हुवा; परन्तु यह ध्यान विशेषतः रक्खा गया है कि वह अपने रूप में स्थिर रहे और पाठकों के कण्ठ इकट्ठे ही उचित पंक्तियों से अलंकृत हो जावें।
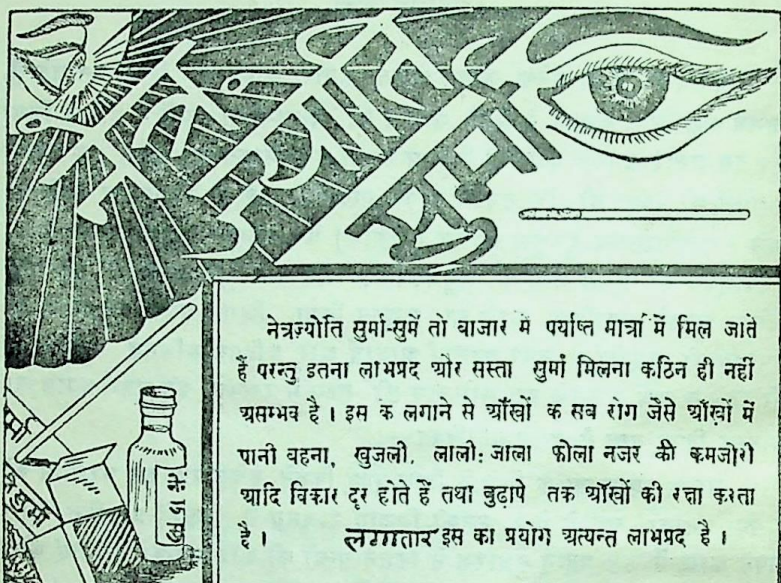
जो महानुभाव ऋषि के बृहत् इतिहास के अनुशीलन का समय नही निकाल पाते, यह गुम्फन न केवल उनकी मनःकामना ही पूरी करेगा, अपितु उस अद्भुत संन्यासी का वे यथार्थरूप में मूल्याङ्कन भी कर सकेंगे। ऐसी दशा में मैं समझता हूं यह कृति सभी के लिए उपादेय सिद्ध होगी।

अब तक प्रकाश में आये उस अमर आत्मा के सभी इतिवृत्त अपनी-अपनी एक विशिष्टता रखते हैं। समय की अल्पता जिन मानवों को उद्वेलित नहीं करती उनके लिये उन सबका ही अध्ययन एवं गहन मनन करना अनिवार्य मानता हूं।

अन्त में एक वक्तव्य यह है कि जिन की सत्प्रेरणा से मैंने इस सङ्कलित माला के मनोरम सुमन आपके कर-कमलों में रखने का सौभाग्य प्राप्त किया है, भारत की एक विभूति महर्षि दयानन्द में एकनिष्ठ उन आचार्य भगवान्देव जी की इस उपकारिता को जहां मैं नत-मस्तक होकर स्वीकार करता हूं, वहां आशा करता हूं कि देश-देशान्तर के कुमार-कुमारी और नर-नारी भी उन्हें अपने स्मृति पटल का अतिथि बनाएंगे, इन शब्दों के साथ—
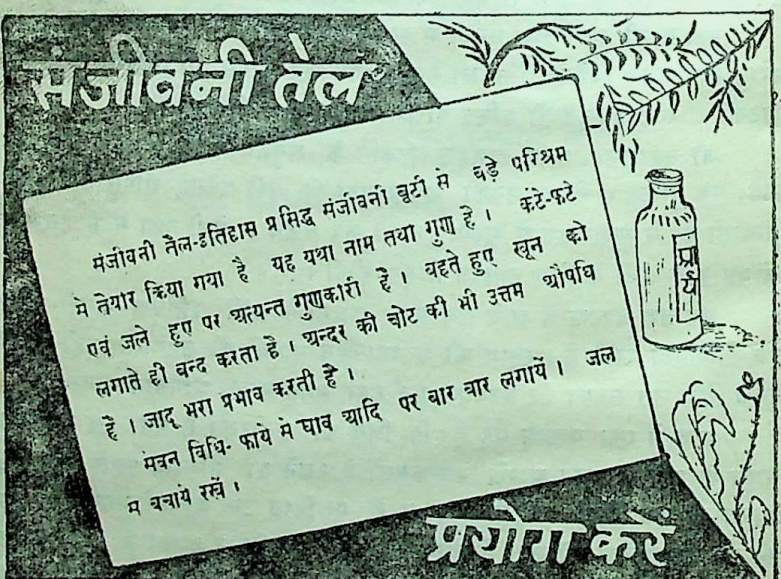
आप का हितैषी
वेदानन्द वेदवागीश

नेत्रज्योति सुर्मा

नेत्रज्योति सुर्मा-सुर्मे तो बाजार में पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं परन्तु इतना लाभप्रद और सस्ता सुर्मा मिलना कठिन ही नहीं असम्भव है। इस के लगाने से आँखों के सब रोग जैसे आँखों में पानी बहना, खुजली, लाली, जाला फोला नजर की कमजोरी आदि विकार दूर होते हैं तथा बुढ़ापे तक आँखों की रक्षा करता है। लगातार इस का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद है।

निर्माता—आर्य आयुर्वेदिक रसायनशाला गुरुकुल झज्जर, रोहतक

ओ३म्

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ

★ ओ३म् ★

युग-प्रवर्तक

देवपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती

वैराग्य कण्डिका

ऋषि के बाल सखा

विश्वतोदर्शी दयानन्द सरस्वती को इस भूतल से निर्वाणपद प्राप्त किये अतिकाल क्रान्त नहीं हुआ। कुछ वर्ष पूर्व विक्रम सँव्वत् १६८१ में टङ्कारा शताव्दी पर उनके बाल सखा १०३ वर्षीय श्री इब्राहीम के आर्यजनों ने दर्शन किये थे। उनका वक्तव्य था:—

"जिन्हें आप लोग ऋषि दयानन्द कहते हैं तथा आज सम्पूर्ण भारत ही नहीं अपितु समस्त संसार जिनकी विद्वत्ता और महत्ता पर मुग्ध है, उन भगवान् के साथ मैं इसी टङ्कारा ग्राम की भूमि में, इसी डेमी नदी के सैकतिक भूभाग पर, इन्हीं खेतों के भीतर, इन्हीं वनमालाओं के झुरमुटों में अनेक वर्षों तक बचपन में खेलता रहा हूँ। मुझे आज भी उनकी वह बाल्य मुग्ध मूर्ति स्मरण है। उनकी आंखों में आर्कषिता और तेजस्विता, शरीर में सौन्दर्य और बल, मुखचन्द्र पर सरलता और आग्रह, वाणी में मार्दव और ओजस् कूट-कूट कर भरे थे। कितने ही वार जहां आज यह मण्डप सुशोभित है, मैंने उनके साथ कुमार क्रीडाएं की थीं। अनेक समय इसी डेमी सरित् की धारा में मैं और वे हंसते-हंसते तैरे थे। बहुश: उनके बाल्य शरीर के साथ मैंने मल्लयुद्ध और मारपीट की थी। वयस् में यद्यपि वे मुझ से दो वर्ष छोटे थे; तथापि उनके शरीर में अतिशय बल विद्यमान था। एकाकी ही वे मुझे और मेरे सहचरों को पराजित कर दिया करते थे। सच पूछिए, तो वे अतीव उपद्रवी और हठी थे; परन्तु निर्बलों के साथ उनकी अनिर्वचनीय सहानुभूति थी। जब से वे अपनी अतुल विपुल सम्पत्ति को ठुकराकर घर से भागे थे और कहीं संन्यासी हो गये थे, तब से ही मेरा परम अभिलाष था कि मैं उनके पुन: दर्शन करूं; परन्तु मेरी यह अन्तराकांक्षा मेरे दौर्भाग्य से पूरी न हो सकी।"

ऐसे लोकोत्तर महापुरुष की चेष्टाओं का आद्यन्त उल्लेखन ही उनके प्रत्यक्ष अभाव में, मानवीय क्रिया-कलाप के उन्नयन करने का प्रकृष्टतम साधन है।

जन्म परिचय

विक्रम सँव्वत् १८८१ फाल्गुन (गुजराती माघ[1]) कृष्णा दशमी शनिवार की प्रातर्वेला के मूल नक्षत्र में भारत के भाग्य विधाता उस भगवान् दयानन्द भास्कर ने माता मूंगीबाई की उदर-गुहा से उदय होकर सौराष्ट्र भूमि के मौरवी राज्यान्तर्गत टंकारा नगरस्थ जीवापुर मुहल्ला के अधिवासी औदीच्य सामवेदीय ब्राह्मण श्री कर्षण जी लाल जी त्रिवेदी के गृह को आलोकित किया था।

प्रतिष्ठित ब्राह्मण दम्पती ने अपने प्रिय पुत्र का नाम मूल नक्षत्र में उसकी उत्पत्ति के कारण नामकरण संस्कार के समय मूलशंकर रक्खा था; किन्तु वे उसे दयाराम के नाम से ही पुकारते थे। यह उनका प्रथम और अति स्नेहलसित नाम था।

श्री मूलशंकर जी के पिता समाहर्त्ता[2] थे, भूमिहार थे, लेन-देन साहूकारा कार्य में निपुण थे और आस्तिकता में शैव थे। उनका अपना एक धनधान्य से भरपूर, विद्या विभूषित कुलीन कुल था।

श्री मूलशङ्कर अपने माता-पिता के पहले सन्तान थे और थे अतिदर्शनीय। इस कारण उनका पालन-पोषण अति प्यार से किया जाने लगा। वैसे भी गुजरातियों में सन्तति के प्रति मोह विशेष होता है। ममतामयी माता और प्रेमपूर्ण पिता के वात्सल्य समन्वित हाथों में लालित पालित बालक ने जब अपने आयुष्य के पांच वर्ष समाप्त किये, तब ब्राह्मणोचित मर्यादा से उनका विद्यारम्भ संस्कार अत्युल्लास भरे वातावरण में सम्पन्न हुआ। उन्हें शिक्षा देने का कार्य हिन्दी भाषा की देवनागरी लिपि से किया गया और साथ-साथ गुजराती वर्णमाला की माला से भी उनके कण्ठ को अलंकृत किया जाने लगा। उत्तम भावनाओं के सम्पादन की उत्कृष्ट योजना को ध्यान में रखकर आदर्श पिता श्री कर्षण जी ने अनेक धार्मिक श्लोकों और सूत्रों का स्मरण कराना भी आरम्भ कर दिया। जब मूलशंकर आठ वर्ष के हुए तो शास्त्रानुशीली पिता ने एक मास पूर्व से ही गायत्री पुरश्चरण का अनुष्ठान करके नियत काल पर उनका उपनयन संस्कार विशेष समारोह से

१—महाराष्ट्र एवं गुजरात प्रदेश में अमावास्या को मास समाप्त होता है और उत्तर भारत में पूर्णमासी को पूरा होता है। शुक्ल पक्ष में सर्वत्र समान होता है। तिथि, नक्षत्रों में कहीं कोई भेद नहीं पड़ता। अतः वस्तुतः कोई भेद नहीं है

२—कर-विभाग के अधिकारी।

कराया। अब यज्ञोपवीत धारी पुत्र को पिता ने सन्ध्या विधि से प्रशिक्षित करके, उनके चाचा जी के अध्यापकत्व में यजुर्वेद से रुद्राध्याय (अ० १६) सिखाने का उपक्रम किया। पुत्र को अति विलक्षण और विचक्षण देख वे उसे एक दूसरे विद्वान् की शिष्यता में रख शब्दरूपावली, धातुरूपावली, व्याकरण और कुछ संस्कृत-साहित्य भी उसकी बुद्धि पेटिका में सुरक्षित कराने लगे।

धार्मिक शिक्षण

ऐसे प्रतिभाशाली बालक से पिता अति प्रभावित हो, उसे धर्मानुयायी भी देखना चाहते थे; क्योंकि धर्म-विहीन अध्ययनचर्चा विप्रकुल को सुशोभित नहीं करती। तस्मात् मूलशंकर को व्रत-अवसरों पर निराहार रखने और उसे शिवोत्सवों एवं कथादि प्रसंगों में ले जाने का संकल्प कर लिया। पुत्र को भी ये अध्यात्म-प्रवृत्तियां अति रोचक थीं। माता का मोह भी कोई वस्तु होता है—वे पतिदेव से निवेदन करतीं कि यह सुकोमल बालक व्रतोपवासों के कष्ट को सहने में समर्थ नहीं है। अल्पवयस् में इसे कर्त्तव्य सोपान पर आरूढ़ करने का विशेष यत्न न कीजिए; किन्तु धारणा के धनी पिता ने पत्नी की एक न सुनी और स्वर्ग-प्राप्ति आदि के अनेक प्रलोभन देकर पुत्र को शिवरात्रि-वेला पर उपवास पूर्वक जागरण कराने में प्रसन्न कर लिया।

बोधरात्रि

त्रिशूलपाणि शङ्कर की कथाएं मूलशङ्कर के लिये कौतुक उत्पन्न करती थीं। शिवव्रत की इस विधि में वे निखिल कथा को हर-हर महादेव में चरितार्थ कर लेना चाहते थे। रात्रि के तृतीय प्रहर में श्री कर्षण जी से आरम्भ कर के जब पूजारि सहित भक्त जन निद्रा में विलीन हो गये तब भी १४ वर्षीय बालक अपने इष्ट साधक श्री महेश्वर को निर्निमेष निहार रहे थे। व्रतभङ्ग के भय से आंखों में जल के छींटे दे-दे कर निद्रा हटा लेते थे।

थोड़ी ही देर में वहां एक मूषक आ निकला और पाशुपत अस्त्रधारी उस हर की माप तौल लेने लगा। देखने में बालक किन्तु महान् आत्मा वे मूलशङ्कर जी अब इस लीला को बहुत ध्यान से देखने लगे। जब शिवजी उस चूहे को, जो सब नैवेद्य झट-पट चट कर के उसी पर घूम भी रहा था, निज देह से पृथक् नहीं कर सके, तो उन्हें यथाश्रुत महादेव और पुरोवर्तिनी उस मूर्ति में संशय होने लगा। वे पिता जी को जगाकर कहने लगे—"ये कथा प्रतिपादित

नन्दीश्वर प्रतीत नहीं होते। पिता जी ! आपने तो कहा था कि वे कैलाश के स्वामी हैं। खाते-पीते और वृषभ पर बठ कर चलते हैं। एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में डमरू रखते हैं वे प्रसन्न होकर वर और रुष्ट होकर शाप भी देते हैं। जब उन्दरु इन पर चढ़ा, तो ये हिले तक नहीं। न ही अपने त्रिशूल से इस क्षुद्र मूषक को पृथक् कर सके। उठा कर इस पर डमरू ही फैंक देते। यह तो करने से रहा, इन्होंने अपना चढ़ावा भी नहीं खाया।"

इस पर पिता ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाया। कैलाश वासी शिव की मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा किये जाने का तर्क भी उपस्थित किया, पर उनके मन में वे सच्चे महादेव प्रमाणित न हो सके और उसी क्षण से उस जड प्रतिमा में ऐसा घोर अविश्वास उत्पन्न हुआ, जो उनके भावी जीवन–निर्माण में आप्राण कार्य प्रणाली में आगे ही आगे चमत्कृत होता चला गया।

शैशव-काल से मूलशंकर जी सत्याग्रही थे। उत्तम वार्ता के आदान और निकृष्ट के परिवर्जन में वे सदा तत्पर रहते थे। जिसे उन्होंने एक बार बुद्धि विरुद्ध ठहरा दिया, लाख यत्न करने पर भी कोई उनसे उसे स्वीकार न करा सकता था। अन्ततः एक आरक्षी के साथ घर पर आकर उन्होंने पिता जी के निषेध करने पर भी माता जी से लेकर भोजन कर लिया और ऐसे शय्याशायी हुये कि दूसरे दिन आठ बजे से पूर्व उठ न सके।

व्रत टूटने की वार्ता पर पिता ने पुत्र की अति भर्त्सना की, किन्तु मेधा-धनी पुत्र ने यह निवेदन कर उन्हें शान्त कर दिया—"पिता जी आपने ही तो कहा था कि मूर्ति-प्रतिष्ठा की गयी है, सच्चे शिव तो और ही हैं। तब मैं कृत्रिम की पूजा क्यों करूं और क्यों ही भूखा मरूं ?

थोथी धर्मनिष्ठा से आस्था-हीन हो जाने पर अब मूलशंकर ने विद्याव्यसनी रहने का निश्चय कर लिया और वास्तविक शिव के अन्वेषण की भी एक गहरी रेखा अन्तःकरण में खींच ली। स्नेही पितृव्य ने जब अपने भतीजे का अधिवक्ता बनकर श्री कर्षण जी से उपवास न करने की छूट दे देने का अनुरोध किया, तो भार्या की भी ऐसी ही सम्मति देख उन्होंने अपना आग्रह हटा लिया।

पिता से अनुमति लेकर मूलशङ्कर जी अपने स्थान के निकट-वासी एक विद्वान् ब्राह्मण से निघण्टु, निरुक्त, मीमांसा आदि का पठन और कर्मकाण्ड विषयक स्मार्त्त ग्रन्थों का विवेचन करने लगे।

अशांत धारायें

शिवरात्रि की प्रबोध घटना के पश्चात् अध्ययन की तत्परता भी शिवदर्शन

के अभाव में मूलशंकर के चित्त को शांत न कर सकी। योगाभ्यास से भगवान् दिखाई देते हैं—यह बतानेवाले तो उन्हें मिले, पर योग-विधि क्या है ? यह निर्देश कहीं से न मिला। इस कारण उन्होंने इस उपाय की उपलब्धि के लिये किसी समय भी गृह-त्याग का संकल्प कर लिया।

एक रात्रि में वे पिता जी के साथ अपने बन्धु के यहां नृत्योत्सव में पहुंचे ही थे कि एक भृत्य ने उनकी १४ वर्षीया छोटी बहिन के विषूचिका से आक्रांत हो जाने का विषम समाचार आ सुनाया। उसी क्षण घर पहुंचने पर देखा कि बहु-विध चिकित्सा के उपरान्त भी कोमल लता के समान बल खाती हुई उनकी भगिनी दारुण दु:ख के साथ चार घण्टे के भीतर ही दम तोड़ गयी।

सोलह वर्षीय मूलशंकर जी अपनी स्वसा को इस प्रकार चले जाते देख कर शरीर की नश्वरता के विचार में इतने डूबे खड़े थे कि सम्बन्धिजनों के करुण-क्रन्दन के मध्य से उनके लिये निकले कटु कटाक्ष, पिता के मुख से सुना गया 'पाषाण हृदय' और स्नेहमयी माता की वाणी से भी उच्चरित निष्ठुर शब्द उन्हें विमोहित नहीं कर सके। कोई भी उनकी गहरी गुप्त मन्त्रणा को समझ न पाया। उन्होंने स्पष्ट देखा कि मृत्यु को छोटे-बड़े का कोई विवेक नहीं है। नहीं पता, मुझे भी वह कब अपना कवल बनाले। सुना है महाकाल से सब डरते हैं, पर ब्रह्मचारी ही एक ऐसा है, जिससे वह भी डरता है। आज उस मृत्यु को पहले बार देखा है।

एक ओर तो घर में रीति के अनुसार पांच-छ: दिनों तक रोना-धोना चलता रहा, दूसरी ओर मूलशंकर अश्रुविहीन बना समस्या में उलझा रहा। माता उसे सोने को कहती, पर मर जाने के भय से उसे नींद न आती। छाती धड़कने लगती। वह रह-रह कर चौंक उठता था। उसे पूर्व-जन्म के संस्कार आ-आकर उद्वेलित कर रहे थे। उसने कथाओं में आत्मा-परमात्मा के विशद व्याख्यान भी सुने थे। उन उपदेशों की स्मृति से उद्भूत वासनाएं कभी कभार अन्तःकरण में विद्युत् की न्याईं कौंध जाती थीं कि जन्म ही न हो तो मरण किस का ? उत्पत्ति क्यों होती है ? निदान का पता लग जाये तो सब द्विधाओं का समाधान स्वतः हो जाता है।

विद्या और मरण-त्राण इन दो उद्देश्यों में से अगत्या वे अपना आलम्बन विद्या प्राप्ति को ही बनाए रहे। आरम्भ किये हुए सकल ग्रन्थों का अध्ययन तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद सस्वर उन्होंने सतरहवें वर्ष की अवस्था में कण्ठस्थ करके समाप्त

किया । पश्चात् सामवेद को हाथ में लिया । उसके अवसान पर जब आयुष् का उन्नीसवां वर्ष उनके कलेवर पर लावण्य बिखेर रहा था, तब उनसे प्रेम करनेवाले सच्चरित्र, धार्मिक और विद्वान् गुरु चाचा भी एक दिन विभीषिकादायिनी विषूचिका रोग की चारपाई पर आपड़े । समीप बुलाए मूलशंकर से वह दृश्य देखा न गया और दोनों ही फूट-फूट कर ऐसे रोए कि रुक न सके । इतने में ही मूलशंकर क्या देखते हैं कि उस दैत्य महाकाल को किसी के भी रोदन पर करुणा न आई और वह सबकी उपस्थिति में अपने हंस को उठा ले गया । भयावह शरीर छोड़ गया, जो सर्वथा निष्प्रयोजन था ।

मूल जी के लिए मृत्यु का यह दूसरा दर्शन घर में ही था । इस कारण वह इस देहान्तक के चंगुल में न फंसने के लिए अधीर हो उठा ।

दूसरे के परलोक-गमन पर श्मशान वैराग्य तो सबको होता है, पर स्थिर विरक्ति मूल जी को ही हुई । उनकी जगत् से घृणा की कथा सखा-मण्डली से जब माता-पिता को अवगत हुई तो उन्होंने पुत्र के लिये गृहस्थ-पाश प्रसारित करने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु मूलशङ्कर के इस अनुरोध को उन्होंने मान लिया कि अभी उसकी शिक्षा अधूरी है, शीघ्रता न की जाए । बात टल गई । इस प्रकार विद्यागुरु चाचा जी के अभाव में मूल जी का १।। वर्ष पूर्वपठित ग्रन्थानुशीलन में ही बीता ।

पश्चात् आयुष् के बीसवें वर्ष की समाप्ति पर मूल जी ने वैद्यक-ज्योतिष् और व्याकरण का विशिष्ट विद्वान् बनने के लिये काशी जाने की अनुमति मांगी । माता ने तो स्पष्ट कह दिया—"मैं काशी कभी नहीं जाने दूंगी । अधिक पढ़े लिखे युवक प्रायः घर-बार के नहीं रहते ।

नकारात्मक कथन द्वारा उत्पन्न मूलशङ्कर की उदासता से शोकाकुल पिता ने पुत्र को अपनी भू-सम्पत्ति के कार्य में हाथ बटाने को कहा, पर मूल जी सहमत न हुए ।

पुत्र की विद्या में लालसा देखकर छः सहस्रमान[1] की दूरी पर अपनी जमींदारी में रहनेवाले एक विप्रप्रवर से शिक्षा लेने की आज्ञा दे दी । शिष्य को मतिमान् और प्रतिभावान् देख कर गुरुवर उसमें विशेष अनुराग रखने लगे । शिष्य ने गुरु पर विश्वास करके संसार शृङ्खला में न बन्धने का अपना सङ्कल्प उंडेल दिया । गुरु से यह सन्देश शिष्य के घर जा पहुँचा ।

1—किलोमीटर

मूलशंकर को घर बुला लिया गया। उसके विवाह का सम्भार संग्रह किया जाने लगा। एक मास के भीतर ही पुष्कल सज्जा को देखकर मूलजी को अब अपने गृह-बन्धन के न टलने का पूर्ण निश्चय हो गया।

गृह त्याग

विक्रम सम्वत् १९०३ था और उनकी अवस्था बाईस वर्ष थी। वे उस लुभावने दृश्य को ठुकरा कर, धन सम्पत्ति से मुख मोड़कर और स्नेहमयी माता से नाता तोड़कर चुप-चाप ज्येष्ठ मास की सान्ध्य वेला में यह धारणा कर, घर से निकल गए कि "यहां फिर लौट कर न आऊंगा।"

महापुरुष बनने का यह एक रहस्य है कि वे विचार-विमर्श पूर्वक एक वार निकला हुआ शब्द पुन: उलटते नहीं हैं। सचमुच जैसे उन्होंने शिवरात्रि की उस घटना के पश्चात् उपवास कभी नहीं किया; ठीक ऐसे ही फिर सगे-सम्बन्धियों से मिलने भी कभी नहीं आए। इस प्रकार माता-पिता को पुत्र-वियोग तो स्वीकार हुआ; पर उसका परिणय न करना सहन न हुआ। अहो! पुत्र से प्रिय पाणिपीडन !!!

श्री मूल जी टंकारा के जामनगर द्वार से निकले और ८ सहस्रमान[1] दूर एक ग्राम में रुके। प्रहर रात रहते वहां से चल पड़े। परिचित बांकानेर और राजकोट से बचकर निर्जन और अगोष्पद स्थानों से चलते हुये वे सूर्यास्त पर ३० सहस्रमान[1] दूर रामपुर के मारुतिमन्दिर में जा विराजे। घर से चलने के तीसरे दिन एक प्राशासनिक कर्मचारी से यह सुनकर कि कुछ अश्वारोही आरक्षी[2] एक पलायित युवक को खोज रहे हैं, उन्होंने रामपुर छोड़ दिया और योगाभ्यास में लाला भक्त की प्रसिद्धि सुन, शैला की ओर जो मौली संयान स्थात्र[3] से ८ सहस्रमान दूर है; चल दिये। मार्ग में उन्हें साधु वेषधारी एक ठगी ब्राह्मणों का भिक्षुक दल मिला। उसने योगेच्छु मूलशङ्कर को चिड़ाया और धारित अलङ्करण उससे मांगे। समृद्ध गृहत्यागी, मुमुक्षु मूलशङ्कर जी समस्त सोने चांदी के भूषण उन्हें देकर आगे बढ़ गए।

शैला में लाला भक्त योग-निष्णात न था, पर ख्याति सुनकर उससे कुछ सीखा। निशीथ वेला में वृक्ष तले जब वे समाधि-साधना में जुटे थे, तो उल्लुवों का "घू-घू" कण्ठरव सुना। उसे अमङ्गल समझ वे भयभीत होकर वही लाला भक्त के देव मन्दिर में घुस गये।

१—किलोमीटर २—पुलिस ३—रेलवे स्टेशन

नैष्ठिक दीक्षा

शैला में परिचय बढ़ने पर एक ब्रह्मचारी से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले ली और काषायवस्त्र पहन कर "शुद्ध चैतन्य" नाम से व्यवहृत होने लगे। वहां एक मास ठहरे। पुत्र–कलत्री उस सद्गृहस्थ लाला भक्त से परमात्मा-प्राप्ति का अभिप्राय पूरित होता न देख, व्यर्थ काल-क्षय न करने वाले शुद्ध चैतन्य ने वहां से प्रस्थान कर चूडालीमडी एक रात विश्राम किया। पश्चात् अहमदाबाद के निकट एक छोटे राज्य की राजधानी कोटगङ्गारा में आकर एक वैरागी सन्तों के टोले में जा मिले, पर उन नामधारी वैरागियों ने एक युवती राणी चंगुल में फंसा रक्खी थी। उसने शुद्ध चैतन्य से हाव भाव अक्ष-कटाक्ष भी किये, पर वासना-जाल से शून्य वे शुद्ध चैतन्य ही रहे। सुन्दरी द्वारा दाल गलती न देख वैरागी धूर्त्त मण्डल ने उन का उन की रेशमी धोती के कारण उपहास किया। शुद्धचैतन्य ने कौशेय वसन वहीं उतार, समीप बचे तीन रुपयों से सादे वस्त्र ले लिये। पर उनके गण में नहीं मिले और पृथक् तीन मास तक वहीं किसी एकान्त में रहते रहे।

कार्तिक मास में होने वाले सरस्वती नदी के तट पर सिद्धपुर के मेले की अतिशय प्रशंसा सुन, ब्रह्मचारी जी ने साधु समागम के लिये कोटगङ्गारा से प्रस्थान कर दिया। मार्ग में उन्हें जन्म-भूमि टङ्कारा के निकटवर्ती ग्राम का एक परिचित वैरागी मिला। वह योग-मोक्ष के तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ था और था उदरम्भरि[1]। समृद्ध परिवार के उस काषायाम्बर, यशस्वी, नवयुवक, शुद्ध चैतन्य को देखकर वह अति चकित हुआ और बोला—"तुम्हारे घर किस वस्तु की कमी थी जो यह वेष धारण किया है?" साथ-साथ चलते हुये उसके एक प्रश्न पर ब्रह्मचारी जी अपने मन की खोल बैठे और बोले, "मेरी लक्ष्यसिद्धि में घर सर्वथा प्रयोजन-हीन है। मैं घर न लौट कर इस समय सिद्धपुर के मेले में भवबन्धन-भञ्जक सन्तों के सत्सङ्ग से अलभ्य लाभ उठा, अमरत्व प्राप्त करूंगा।" वैरागी कपट-रागी था। वह ब्रह्मचारी जी का साथ छोड़ चला। शुद्धचैतन्य जी एकाकी ही ग्रामानुग्राम होते हुए सिद्धपुर के नीलकण्ठ महादेव मन्दिर में पहुँच, वहां पूर्व से ही विराजमान अनेक दण्डी साधु और कथित ब्रह्मचारियों में जा मिले। वे वहां जिसे भी योगानुरागी सुनते, अतिश्रद्धान्वितता से उसी से योग-गोष्ठी करते। उनकी ज्ञान-धारा निरन्तर उनके अन्तःकरण को उज्ज्वल बना रही थी।

---

१ पेटू

पिता से अन्तिम मिलन

उधर कोट गङ्गारा और सिद्धपुर के मध्य साक्षात् हुए उस वैरागी कपट रागी ने श्री कर्षण जी को शुद्ध चैतन्य का शुद्ध वृत्तान्त पहुँचा दिया। पुत्र-विरह से व्यथित पिता पुत्रान्वेषण में चार आरक्षियों के साथ सिद्धपुर जा पहुंचे और साधुवों के एक-एक डेरे को टटोलने लगे। दौर्भाग्य समझिये, उन सबकी दस आंखों ने ब्रह्मचारी वरेण्य को खोज निकाला और वहीं से दुत्कारते हुये पिता ने अपने आत्मज को वंश दूषक, शङ्कर समुज्ज्वल कुल-कलङ्क, दुश्चेष्ट, मातृघाती और प्रवञ्चक प्रभृति उच्च, उग्र, वचन-बाणों से बींध दिया। उसके गैरिक वस्त्रों की धज्जियां उड़ा दीं। कमण्डलु तोड़-फोड़ कर फैंक दिया। पुत्र ने क्रुद्ध पिता के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम किया, पर सब अरण्य रोदन ही रहा। पिता का कोपाग्नि प्रचण्ड रहा। उन्होंने कर्मचारियों को आदेश दिया—"इस कुलविध्वंसक को अपने डेरे पर ले चलो। वहां इस पर पहरा रखना। कहीं फिर न भाग जावे।" जब सिद्धपुर मेले में आया ही हूं, तो यहां का पुण्य भी लूट लूं। साधु-सङ्ग कर लूं।

ब्रह्मचारी जी थाना अधिकारी से प्रगृहीत अभियुक्त की भांति आरक्षियों से घिरे हुवे थे। वे प्रसुप्त समान विष्टर पर पड़े इन विचारों में मग्न थे—"कितनी विडम्बना है जीवन में! पिता जी प्रतिदिन शिव-अर्चना करते-करते अभी तक विरक्त नहीं हुए। साधुसङ्ग करना चाहते हैं, पर इन्हें पुत्र को साधु देखना अभीष्ट नहीं है। सन्त बनना उत्तम है, पर अपना बेटा नहीं। ज्ञान गङ्गा मिल जाये, पर अपने घर नहीं। जब यह ही वृत्ति सब की है, तब महात्मा तो भाग कर, घर से नाता तोड़ कर ही बना जा सकता है। निस्सन्देह थोथी भक्ति, कथा श्रवण, बिल्वपत्रादि समर्पण समय का दुरुपयोग ही हैं, जो जीवन में परिवर्तन न लाएं और बाहर से धार्मिक तथा भक्त की प्रतीति कराएं। पिता जी के इस साम्प्रतिक व्यवहार से मैं लक्ष्य पर और भी आस्थावान् हो गया हूं।"

प्रहरियों के निरन्तर जागरण से दयार्द्र निद्रा देवी ने कृपा करके चौथी रात जब सभी को अपनी गोद में सुला लिया, तब मानसिक विचारधारा में प्रवाहित अवसरप्रेक्षी श्री ब्रह्मचारी जी जलपात्र हाथ में ले, उस कारा-बन्धन से निकल भागे। एक सहस्रमान दूर एक उपवन में पहुंचे। वहां एक जीर्ण-शीर्ण मन्दिर का शिखर वट-वृक्ष की घन-पल्लवमयी शाखा प्रशाखाओं से आच्छादित था।

उन्होंने बड़ के सहारे अति गहन अंधकार से युक्त मन्दिर की चोटी पर शीघ्रता से आरोहण कर दम साध लिया।

नींद खुलने पर पहरा देने वाले आरक्षी श्री ब्रह्मचारी जी को अपने स्थान पर न देख भौंचक्के हुये दौड़े। उन्होंने उस उद्यान और मन्दिर का कोना-कोना छान मारा, जिसमें शुद्धचैतन्य छिपे थे, पर सौभाग्य समझिये—ब्रह्मचारी जी पर पांचों में से किसी एक की भी दृष्टि न गयी और वे किसी अन्य स्थान पर त्वरित गति से खोजने भागे।

श्री शुद्ध चैतन्य शेष रात्रि और आगामी सम्पूर्ण दिवस उसी शिखा पर स्पन्द-हीन टिके रहे। उनके उद्देश्य में चार रात के निरन्तर जागरण और उस दिन की भूख-प्यास आदि ने भी बाधा उपस्थित न की। वे प्रदोष के अन्धकार में धीरे-धीरे पेड से उतरे। उनका पिता से पिण्ड छूटा और अन्त तक छूटा। उन्होंने अप्रसिद्ध पथ पकड़ा और चार सहस्रमान दूर एक ग्राम में पहुंच रात्रि पर्यन्त विश्राम किया। फिर आगे चल दिये। मार्ग न पूछा। न चाहते हुए भी अहमदाबाद पहुँच गए। वहां से वेदान्त में प्रवीण ब्रह्मानन्द जी आदि की प्रशंसा सुन, बड़ौदा के चैतन्यमठ में जा विराजे। वेदान्त दर्शन पहले से पढ़े थे ही, श्री ब्रह्मानन्द जी के सान्निध्य में 'अहं ब्रह्मास्मि' की धारणा पक्की हो जाने पर भी जब उन्हें शान्ति न हुई तो वे वाराणसेयी एक देवी के कथन से ध्यानी ज्ञानी. योगी तपस्वि-महात्माओं की खोज में नर्मदा तट पर पहुंचे। वहां सच्चिदानन्द स्वामी ने मार्गप्रदर्शन किया कि इसी नदी के पुलिन पर अवस्थित चाणोद नगर से ऊरी नदी का सङ्गम पार करके कुवेरेश्वर, सोमेश्वर और पावकेश्वर आदि मन्दिरों से युक्त रमणीय एकान्त शान्त साधुओं के कर्णाली स्थान में आपकी योगोत्कण्ठा पूरी हो सकेगी। अतः वे वहां न ठहर कर्णाली पहुँचे। (कर्णाली कोई नगर नहीं है, देवभूमि है। व्यवहार में चाणोद कर्णाली इकट्ठे ही बोले जाते हैं।)

चाणोद कर्णाली में "वेदान्त स्वामी" नाम से विख्यात चिदाश्रम जी ने अभिनव ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य से वेदान्त पर ही वार्तालाप किया। वेदान्त चर्चा से भिन्न संलाप 'वेदान्त स्वामी' की प्रकृति में न था। इस कारण वे साधना में भी कुशल थे। शुद्धचैतन्य जी ने योगव्रती ऐसे साधु पहिले नहीं देखे थे। वहां ब्रह्मचारी जी कुछ दूर पर ठहर गए। चाणोद कर्णाली में विराजमान परमानन्द परमहंस से 'वेदान्त सार' और 'वेदान्त परिभाषा' पढ़ने लगे।

संन्यास दीक्षा

तत्कालीन ब्रह्मचारियों के मर्यादानुसार स्वयंपाकी होने से उन्हें विद्या में विघ्न पड़ता था तथा कुल की कीर्ति होने से कोई पहचान न ले, उन्हें संन्यास-क्रिया से दीक्षित होकर नाम परिवर्तन भी अभीष्ट था। अतः उन्होंने अपने मित्र एक दाक्षिणात्य पण्डित द्वारा परमानन्द परमहंस से दीक्षा दिलाने का प्रस्ताव कराया। "अभी वयस् न्यून है" परमहंस ने यह कह कर टाल दिया। शुद्धचैतन्य जी इस से निराश नहीं हुए। वे किसी विशेष अवसर की प्रतीक्षा में रहने लगे। अब उन्होंने 'आर्य हरिहर तोटक' तथा 'आर्य हरिमीडे स्तोत्र' का अध्ययन भी प्रारम्भ कर दिया। कुछ काल पश्चात् ब्रह्मचारी जी के आवास स्थल से तीन सहस्रमान दूर एक ब्रह्मचारी के साथ स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती "दण्डी" ने आकर आसन किया। वे दक्षिणापथ में शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित शृङ्गेरी मठ से चले थे और द्वारिका जा रहे थे। शुद्धचैतन्य जी के सखा दक्षिणी पण्डित ने उन्हें प्रगल्भ विद्वान् पाया। ब्रह्मचारी जी के कथन पर उस पण्डित ने पूर्णानन्द जी से निवेदन किया, प्रभो! ये ब्रह्मचारी वैराग्यशाली विद्याव्यसनी, अतितितिक्षु, ब्रह्म-जिज्ञासु, सदाचारी और दयाभाव सम्पन्न हैं। भोजन की सूखी सामग्री जुटाने और फिर उसे पकाने में इनका बहुत समय नष्ट हो जाता है, अतः इन्हें चतुर्थ आश्रम की दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये। उन्होंने भी "ब्रह्मचारी अभी युवा है" कह कर अनिच्छा प्रकट कर दी। पुनः बल देने पर महाराष्ट्र और गुजरात का बखेड़ा खड़ा कर दिया। फिर उक्त पण्डित के इस तर्क पर कि गौड ब्राह्मणों को तो आप दीक्षित कर सकते हैं, अपने पाश्चात्य द्रविडों को क्यों नहीं? इससे निरुत्तर हो श्री पूर्णानन्द सरस्वती जी ने गुरु बनना स्वीकार करते हुए ब्रह्मचारी जी को दो दिन व्रतोपवास पूर्वक जप-रत रहने का आदेश दिया और तीसरे दिन यथाविधि संन्यास-संस्कार सम्पन्न करके उनका नाम "दयानन्द सरस्वती" रख दिया। यह विक्रम सं० १९०५ का वैशाख मास था।

यह वह समय था जब कि अंग्रेज राजस्थान, सिन्ध, पञ्जाब और ग्वालियर की शक्ति को क्षीण करने के अनन्तर प्रायः समस्त भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे। कदाचित् अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय जन-जागृति न हो जाय; इस कारण उनका रोष शान्त करने के लिये ब्रिटिश अधिकारियों ने कुछ स्थानों पर स्वपक्षपोषक भारतीय शासक ही शासनारूढ रक्खे थे। किन्तु उनके

गतिविधि का निरीक्षण उन्होंने अपने ही हाथ में रक्खा हुआ था। ऐसी दुरवस्था से खिन्न भारत के कूटनीतिज्ञ भी, अंग्रेजों के इस पुण्यभूमि से निष्कासन में व्यग्रता दिखाते प्रतीत हो रहे थे। देश में विदेशी शासन के कुचक्र का कुछ बोध तो स्वामी दयानन्द को अपने काठियावाड में ही होने लगा था; पर विशेषत: इस प्रारम्भिक भ्रमण में भी स्थान-स्थान पर उन्ही बातों को सुनने से अब वे भी गम्भीररहने लगे।

संन्यास-दीक्षा लेते ही स्वामी दयानन्द सरस्वती सकल प्रपञ्चों से मुक्त हो गए। तब स्वामी दयानन्द सरस्वती की अवस्था चौबीस वर्ष दो मास की थी। शिष्य-शिरोमणि दयानन्द अति श्रद्धा भक्ति से गुरुदेव से अध्ययन करते रहे। साधु बनने पर धारण किया अनुपयोगी ध्वज दण्ड भी विद्यानन्दी दयानन्द को विघ्न प्रतीत होने लगा। वह अपनी परिचर्या कराने में पर्याप्त समय लेता था। छह मास पीछे गुरुवर के आदेश से उसे भी विसर्जित कर दिया। इतना कर गुरु जी द्वारिका-दर्शन को चले गए और स्वामी दयानन्द सरस्वती थोड़े दिन चाणोद-कर्णाली में ठहर योगिप्रवर स्वामी योगानन्द की कीर्ति के कारण उनके व्यास आश्रम में पहुंच गए। श्री योगानन्द जी तीस वर्ष से इसी स्थल पर मन-निरोध का अभ्यास कर रहे थे। स्वामी जी ने उनसे आत्मा-परमात्मा के रहस्य सुने, समझे और तत्सम्बन्धित ग्रन्थों का अवलोकन किया। योगेप्सु दयानन्द कुछ समय तक वहीं समाधि-विधि में लगे रहे।

जब अंग्रेजों के कूटचालों की कहानियां सुनते तो उनका हृदय विदीर्ण हो उठता। अवध का सचिव, दिल्ली का शासक, सतारा का मराठा छत्रपति और पेशवा वाजीराव द्वितीय, इन चारों को ब्रिटेन वासियों ने एक दूसरे के विरुद्ध कर पेशवा को सब का प्रतिनिधित्व सौंप, उसे भी अपने आंचल में छिपा लिया था और भारत का शासन स्वयं करने लगे थे। भारतीय नृपों की अकर्मण्यता सर्वत्र विस्तार पा रही थी। देश की दुर्दशा पर दो आंसू बहाने से अतिरिक्त दयानन्द उस समय कुछ कर भी न सकते थे।

काल का सदुपयोग करने के लिये जहां यौगिक क्रियाओं से आन्तरिक बोध के अभीप्सु थे, वहां ब्रह्मज्ञान के लिये ग्रन्थाध्ययन के भी इच्छुक थे। वे अन्त: और बाह्य दोनों उपलब्धियों की एकरूपता में विश्वास रखते थे। बाह्य प्रबोध के लिये व्याकरण शास्त्र में पारदर्शी होना आवश्यक था। इस कारण कृष्ण शास्त्री की व्याकरण में ख्याति सुन विद्यार्थी दयानन्द उनके समीप सिनौर पहुंचे थोड़े दिन पढ़कर चाणोद ही चले आये और एक राजगुरु से वेद पढ़ने लगे।

योगियो के दर्शन

उन्हीं दिनों चाणोद में शिवानन्द गिरि और ज्वालानन्द पुरी दो योगी पधारे। दयानन्द उन्हें देखकर खिल उठे। उनसे अध्यात्मलाभ उठाया। वे श्री दयानन्द को योग-निष्ठ देख यह आश्वासन देकर अहमदाबाद चले गये कि एक मास बीतने पर अहमदाबाद में स्रोतस्विनी तट पर दुग्धेश्वर महादेव में मिलना। वहां ब्रह्मविद्या के रहस्य और चरम योग-प्रणाली के विषय में प्रकाश डालेगे। मुमुक्षु दयानन्द विश्वस्त हुये चाणोद में ही सिद्धि-साधना करते रहे और निश्चित समय पर अहमदाबाद पहुंचे। स्वामी जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"वहां उन्होने अपना प्रण पूरा किया। अपने कथनानुसार मुझे कृतकृत्य कर दिया। इन्हीं महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया समेत योगविद्या भली भांति विदित हो गयी। अतः मैं इनका अत्यन्त आभारी हूं। वास्तव में उन्होंने मुझ पर महान् उपकार किया।" इन परमोदार सन्तों का अच्छा सङ्ग कर श्री दयानन्द जी उत्साहित हो अग्रिम पद्धति जानने के लिये आबू पर्वत के अर्वदा भवानी आदि निकुञ्जों में भवानी-गिरि प्रभृति योगियों से मिले।

१५.१
वे ५१ भा

इस वर्ष भारतीय गौरव का अवसान समीप था। अंग्रेजों से मैत्री का लम्बा हाथ बढ़ा कर दीन-हीन हुये राजेन्द्र अफ़गान समरों में उनकी आर्थिक सहायता कर रहे थे। स्वामी दयानन्द अपनी ही आंखों इस विशाल भूभाग को क्रमशः विदेशियों के विकराल गाल में विगलित होता देख रहे थे। पर उसे संभालना विचारित योग्य-क्रम के विना किसी एक के लिये संभव न था। वे इस चिन्ता में रहने लगे कि भारतीय महिलाओं में कौन-सी ऐसी अवेक्षपाएं आगयी है जो ऐसे दिन देखने को मिले। अगत्या परम-वैराग्य के कारण शिवान्वेषण का लक्ष्य उन्हें योग-पक्ष में ही अधिक प्रोत्साहित कर रहा था।

कुम्भ का मेला

सँव्वत् १९१२ वैशाख मास तक हरद्वार में कुम्भ का मेला भरना था। उस में किसी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के मिल जाने की आशा से स्वामी जी संव्वत १९११ के समाप्त होते-होते सीधे हरद्वार पहुंचे। वहां गङ्गा पार चण्डी पर्वत के एकान्त शान्त, सुन्दर प्रपात गौरी कुण्ड पर घोर तपस् करने लगे। मेला लगने के दिन से ही, उन्होंने सन्तों के डेरों पर मोक्ष-सरणि सिखाने वालों की अन्वेषणा आरम्भ कर दी। न मिलने पर वे निज आवास पर आ जाते और योगारूढ़ हो जाते थे। सांसारिक मेला उनके लिये अकिञ्चित्कर ही था। एक महीने के उस समारोह में

उन्हें किसी भी आत्मदर्शी के दर्शन न हुए, किन्तु एक ऐसे सन्त अवश्य मिले, जो भारत को परतन्त्रता की शृङ्खला में जकड़ा जान विलख रहे थे। उनका पवित्र शुभ नाम था—"पूर्णानन्द सरस्वती।" वे पूर्वतः ही हरद्वार कनखल में रह रहे थे। उस विद्वान् संन्यासी ने वार्द्धक्य के कारण अब अध्ययनकार्य वर्जन किया हुआ था और मौन साध लिया था। सारी आङ्क्षाएं उनकी चिन्ता में समा चुकी थीं। इस हेतु वे जिज्ञासुओं से मिलकर संलाप करने में वाणी का सञ्चालन फिर करने लगते थे। स्वामी जी ने उनसे विद्या-ग्रहण में अपनी रुचि दर्शाई। महात्मा ने कहा --"दयानन्द जी! मैं १०८ वर्षीय वृद्धत्व के कारण विवश हूं। मथुरा में हमारे शिष्य "विरजानन्द सरस्वती" पढ़ा रहे हैं। आपका अभीष्ट मनोरथ वहां पूर्ण हो सकेगा। फिर उस बूढ़े परमहंस ने भारत में अंग्रेजों के प्रवेश की अथ से इति तक सम्पूर्ण गाथा कह सुनाई। ब्रिटेन के अत्याचार और भारतीयों की इस दुर्दशा पर खिन्नमना दयानन्द जी ने तत्काल एकाकी कुछ सूझता न देख उत्तराखण्ड की यात्रा का सङ्कल्प ले लिया।

उत्तराखण्ड की यात्रा

हृषिकेश उन दिनों साधूपयोगी एकान्त शान्त स्थान था। इस कारण मेला समाप्ति पर उन्होंने वहां आसन जा लगाया। वहां अल्पकाल ही ठहरे थे कि एक ब्रह्मचारी और दो पर्वतीय महात्माओं से भेंट हुई। वे उनके साथ भगवान् शिव की खोज में टिहरी (गढ़वाल) पहुंच गये। टिहरी लघु राज्य था। वहां साधु और राजपंडित लोग बहुत मिले। पर दयानन्द की इच्छा जैसा न मिला

एक राजपण्डित ने स्वामी जी को भोजन का निमन्त्रण दिया। श्रद्धातिरेक से समय पर एक यजमान उन्हें घर भी लेगया, परन्तु स्वामी जी द्वार से ही, पकते मांस से निसृत तीव्र दुर्गन्ध के कारण लौट चले। गृहपति चिल्लाया "करुणानिधान! आइये, कृपा कीजिए। सब कुछ पक चुका है विलम्ब नही है।" स्वामी जी ने नाक सिकोड़ते हुए कहा "मैं तो इस दृश्य को देख भी नहीं सकता। जब उलटे लौटकर स्थान पर आगए, तो राजपण्डित के अत्याग्रह करने पर स्वामी जी बोले:- "आप मेरे स्थान पर ही दुग्ध और फल भिजवा दीजिए।" राजपण्डित इस घटना से लजा गया। (विशेष अवसर पर मांस भक्षण उस देश की प्रथा है)।

निमन्त्रणदाता स्वामी जी के स्थान पर आता रहा स्वामी जी ने तब तक तन्त्रग्रन्थ नहीं देखे थे। उस राजपण्डित से तन्त्रग्रन्थ लिए। उन्हें विचारा। उनकी

घृणित बातों से उन में अरुचि हो उठी। एकपदे श्री दयानन्द यति के हृदय में भारत-पतन की विद्युत रेखा कौंधगयी, जब कि ब्रह्माचर्य का लोप करनेवाले उन भ्रष्ट तन्त्रग्रन्थों से पण्डितों ने आर्यसन्तान को मुक्ति-सोपान पर आरोहण का शिक्षण देते देखा।

स्वामी जी ने देखा कि यहां पर्वतीय राज्य में भी बृटिश शासन की दमन नीति के कुचक का लोगों में भय व्याप्त है, किन्तु वे वहां किसी को इसके विरुद्ध चेष्टावान् नहीं देख रहे थे। अब इस विचार-मन्थन में भी वे अपना किञ्चत् समय यापन करने लगे। नौ वर्ष के इस लम्बे काल में उन्होंने स्वयं भारतीय राज्य की अनेक भित्तियां धड़ाम से गिरती देखीं।

टिहरी से चलकर वे श्रीनगर आए। वहां पण्डितों से तन्त्र चर्चा की और उनके मन्तव्यों पर उन्हें लज्जित किया कि भारत में विदेशी शासन के प्रवेश का मूल कारण समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार ही है। पण्डितों ने जहां स्वधर्म को तिलाञ्जलि दी, वहां तन्त्रग्रन्थों के नितराम बुद्धिशून्य उपदेश देकर राजा और राजकर्मचारियों को वासनापाश में फंसा कर क्षात्र धर्म से विमुख कर दिया है। स्वामी जी यहां केदार घाट में दो मास से भी अधिक रहे।

उत्तराखण्ड की इस यात्रा में दयानन्द और भी आगे बढ़े। उत्तमोत्तम दृश्यों का लाभ लूटते हुए रुद्रप्रयाग होकर अगस्त्य मुनि के समाधि पर पहुंचे। वहां से 'शिवपुरी' पर्वत शिखा पर पहुंच वर्षा कालीन चातुर्मास्य व्यतीत किया। फिर वे अपने साथी ब्रह्मचारी और दोनों साधुवों से पृथक् हो एकाकी ही केदार घाट लौट आए। वहां से गुप्तकाशी, गौरीकुण्ड, भीम गुफा, त्रियुगी नारायण के मरत् श्यामल दृश्य देखते हुए पुनः अपने केन्द्र केदार घाट में ही आ विराजे। साधु गुण सम्पन्न श्री गंगागिरि जी का सहवास भी वहां कम आकर्षक न था। योग की गुप्त वार्ता में विरक्त दयानन्द की उन से सौहार्द्य रज्जु लम्बी हो चुकी थी। पर्याप्त समय तक वहां जङ्गम जाति के पण्डों के मध्य विराजमान होकर भी उन्होंने तत्स्थानीय ब्राह्मण आदिकों की रीति-नीति का सूक्ष्म निरीक्षण किया। दुष्प्रवृत्तियों को वर्जने की उन्हें प्रेरणा की। शिवपुरी से तीनों साथी भी अब वहां आ मिले।

शीत आरम्भ होचुका था। पर्वतीय प्रान्तों में और भी विशेष था। फिर भी साहस को बढ़ाया और हिमशैल शिखरों की कन्दराओं में सुने जानेवाले सिद्ध योगियों की खोज में चल दिए। तीनों सहचर तो शीतातिशय के कारण आगे न बढ़ सके; परन्तु सहिष्णु दयानन्द चलते ही गए। बीस दिन तक आकाशस्पर्शी

हिमश्वेत शीतल सानुओं पर जब कोई तपस्वी न दीख पड़ा, तो वे भी उस जनश्रुति को अप्रमाणित कर हताश लौट आए। पुनः समीपवर्ती तुङ्गनाथ शिखर पर चढ़े। वहां मन्दिर में पूजारियों का जमघट देख, तत्क्षण नीचे उतर आये; क्योंकि उन्हें वे मूर्तिपूजक व्यर्थ समय करते और भारत को नरकधाम में पहुंचाते स्पष्ट प्रतीत होते थे। आलस्य और अकमर्ण्यता का निर्माण करने से अतिरिक्त वहां कुछ न था। जिसका कृत्रिम भगवान् अपने ऊपर से एक चूहे को भी नहीं हटा सकता, वे शत्रु को देशनिकाला देंगे, यह दुराशामात्र थी।

स्वामी जी नीचे उतरते हुए मार्ग भटक गए; दो मार्गों में से वे उस पथ के पथिक बने, जो सघन अरण्य को जाता था। विषम पाषाण शिलाओं, जल-विहीन नदी नालों को लाङ्घकर वे एक ऐसे अवरुद्ध स्थल पर जा पहुंचे, जो वृक्ष लताओं से आवृत दिन में भी रात्रि समान था। उस समय सूर्य भी अस्ताचल की ओट में होने की बाट जोह रहा था। इस कारण ऊपर न चढ़ सावधानी से वृक्षों की शाखा प्रशाखाओं और गुल्मलताओं को पकड़कर नीचे उतरने लगे। मार्गवर्तिनी एक जल-विरहा नदी की उच्च शिखा से देखा कि चहुं ओर दुर्गम पर्वत तथा कण्टकाकीर्ण कानन है। अन्धेरा होने लगा था। शीत प्रचण्डतम था। अग्नि ज्वालन का कोई साधन न था। वे वीरता से चल पड़े। अन्धेरी रात। झाड़ियों में उलझकर उनके वस्त्र छुड़ाते २ भी छितरा गये। शरीर क्षत-विक्षत लहुलुहान हो चला। कांटों और नुकीले पत्थरों से पैर छलनी बन गए। वे लङ्गड़ाते चल रहे थे। किसी प्रकार तुङ्गनाथ की उपत्यका में पहुंचे। एक पगडण्डी से चलकर उन्हें कुछ पर्णकुटीर मिले। कुटीर स्वामियों से पूछकर बड़ी रात बीते वे ओखीमठ पहुंच पाए। सचमुच वह यातनासहन, धैर्य और शौर्य उन्हीं का कार्य था। प्रभात होने तक वहां सुख से सोए।

भारत का प्रशासनिक मानचित्र यहां सर्वथा तिरोहित था। कोई न जानता था कि भारत कहां से कहां खिसक गया है।

शरीर-क्लेश की अवेक्षा कर दयानन्द शिव की टोह में प्रातः होते ही उत्तर-दिशा में चल पड़े। मठ न देख पाए थे; इस कारण देखने का औत्सुक्य जागरित हो उठा। पीछे लौटकर मठ में आए। साधु समागम किया। वहां सब को ज्ञान और वैराग्य से शून्य पाया। मठ की श्री विशाल थी (उसमें अब भी दुष्प्राप्य और मूल्यवान् ग्रन्थों का सङ्ग्रह है)। मठधारियों का जीवन ठाठ बाट और आडम्बर में बीत रहा था। कुछ दिन वहां ठहर कर स्वामी जी ने उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया। ओखी मठ के मठाधीश तो ३१ वर्षीय दयानन्द युवक को

ब्रह्मचर्य से कान्तिमान् देखकर आकर्षित होते जा रहे थे। एक दिन उन्होंने दयानन्द से अपना शिष्य बन जाने का अनुरोध किया और प्रलोभन देते हुए बोल उठे-' लाखों रुपयों की सम्पत्ति के अधिकारी बनोगे, उसका स्वतन्त्रता से उपभोग करोगे और करोगे अपने जीवन का सदुपयोग। घुमक्कड़ों की भांति घूमने में क्या पड़ा है; यहीं बैठ जाओ और मान प्रतिष्ठा पाओ, दयानन्द !"

श्री दयानन्द जी कच्चे धागे न थे वे घर से सब कुछ सोचकर चले थे उन का आत्मा योगाग्नि से प्रदीप्त था, सदसत् का विवेक था। पातञ्जल दर्शन का प्रबोध था; उन्हें यहां प्रथम वार अपने विषय में प्रतीत हुआ कि वे साधना की उस भूमिका पर पहुंच गए हैं, जहां देवी, देवता और ऐश्वर्यविभूषित मानव भी एक योगारुढ़ का आदर करते हैं; जिसका सत्कारी उस अनिष्ट प्रसङ्ग से दूषित हो जाता है। इस घटना से सम्पूर्ण पातञ्जल योग पर उन्हें आस्था हो गयी और जन्म मरण से छूट जाने का विश्वास भी हृदयङ्गम हो गया। तस्मात् मठ के ऐश्वर्य को ठुकराते हुए दयानन्द बोले,-मठाधीश ! जिस वैभव पर आपको अभिमान है, इससे मेरे घर की विभूति कहीं अधिक ही थी। मुझे तो और ही सम्पदा चाहिए, जो आप श्री महन्त को छुई तक नहीं। "वह धन कौन-सा है ?" यह पूछे जाने पर निस्पृह दयानन्द ने कहा-"इस सांसारिक प्रलोभन से उलटा, जिसको प्राप्त कर, यह चरणों में लौटे और मैं उसे ठुकराऊं। वह है-अपने आत्मा का साक्षात् करके परम सम्पन्नता के भण्डार भगवान् के अपरिमित ज्ञान में पगे रहना।"

दयानन्द के इन अकाट्य शब्दों से मठपति विस्मित हो उठा और कुछ दिन तक अपने यहां ही ठहरने का आग्रह करने लगा। पर ब्रह्म बुभुत्सु दयानन्द तो काल-यापनार्थ कहीं टिकते न थे। वे वहां से चल पड़े। जोषी मठ आये। यह शङ्कराचार्य के स्थापित मठों में से एक है, जिसे ज्योतिर्मठ भी कहते हैं। वहां समागत अभ्यासियों से कुछ आत्म विवेक का शिक्षण लिया, पर मनस्तोष न हुआ। वहां से बद्रीनारायण पहुंचे। प्रधान पण्डा रावल से वेदादि शास्त्र चर्चा की और अपने लक्षित लक्ष्य का संकेत भी किया। किसी योगी के विषय में प्रश्न करने पर रावल जी ने कहा—"इधर योगी नहीं हैं, पर कभी-कभी कोई मन्दिर में दर्शन को आजाते हैं।"

यति दयानन्द जी चित्तशोधन में यद्यपि बहुत आगे पहुंच चुके थे, पर जैसे वस्त्र में रमा हुआ सूक्ष्म मल अति आयास से ही हटता है, इसी प्रकार अनेक

जन्मों के अन्तःकरण में पड़े अतिसूक्ष्म संस्कारों को मिटाने के लिये किसी पूर्ण ब्रह्मपरायण की अपेक्षा थी। दयानन्द ने इस वार प्रण किया—"कुशल योगी के लिये मेरी यह अन्तिम खोज है, यदि कोई अभीष्ट दर्शक नहीं मिला, तो अब इस मर्त्य-भूमि से सम्बन्ध नहीं रक्खूंगा। जिस विध पाण्डवों ने सशरीर स्वर्गारोहण किया था, मैं भी अब आगे बढ़ता ही रहूंगा और शरीर शान्त कर दूंगा।"

अपने साध्य की सिद्धि का क्षेत्र उन्होंने अलखनन्दा को बनाया। एक दिन सूर्योदय वेला में वे बद्रीनारायण के मन्दिर से निकले। पर्वत के नीचे-नीचे अलखनन्दा तट तक पहुंचे। नदी पार एक बड़े 'माना' ग्राम में किसी सिद्ध पुरुष के मिलने की असम्भावना में उधर जाने की इच्छा नहीं की। नदी के हिमाच्छादित तट के साथ-साथ सघन अरण्यानी की ओर बढ़ गए। हिमशिलाओं से उनके नंगे पैरों को दारुण दुःख पहुंचा। अति वेदना पाकर अलखनन्दा के प्रसिद्ध उद्गम पर पहुंच गये। सर्वथा अपरिचित उस स्थान पर खड़े दयानन्द को चहुं ओर गगन-चुम्बी पर्वतमालाओं ने घेर लिया। मार्ग मिलना तो दूर रहा, वहां पैरों तक के चिह्न न थे।

अन्त में अलखनन्दा की दूसरी तटी से पगडण्डी मिलने की आशा में पीछे लौटे। शीत का आधिक्य था। उनके तन पर वस्त्र बहुत थोड़े और पतले थे। भूख-प्यास की व्याकुलता असह्य हो चली थी। उसे मिटाने के लिये हिम का टुकड़ा गले से उतारा, पर उससे कुछ न बना। फिर वे अलखनन्दा पार करने को उतरे। उसमें जल कहीं एक हाथ, तो कहीं बहुत गहरा था। नदी का पाट आठ-दस हाथ ही था, पर वह सब सुतीक्ष्ण हिमखण्डों से भरा था। उससे उनके नंगे तलवे गहरे छिल गये। एक ओर रुधिर-धारा से अधीरता, तिस पर शीतातिरेक से अचेतनता, और फिर डगमगाने से गिर पड़ने की आशङ्का थी। वे इतने अवसन्न और अशक्त हो चुके थे कि यदि एक वार धरती पर टिक गए, तो उठने की आशा न थी और सम्भवतः शरीर वियोग ही हो जाता। उनका सब कुछ खो चुका था, पर उत्साह विद्यमान था। साहस रहते बढ़ते चलना आवश्यक समझा। जीवन-मरण की उस सन्धिवेला में अतिक्लेश से अलखनन्दा पार कर तो गए, पर अवस्था इतनी शोचानीय हो चली थी कि हिल डुल भी न सकते थे। शिथिल हाथों से किसी प्रकार वस्त्र उतार, पैरों पर घुटनों तक लपेटे निढाल होकर क्षुधार्त्त, अतिविश्रान्त और निःशक्त बने नैराश्य में किसी सिद्धपुरुष की आशा से आंखों का ज्योतिष् चहुँ और घुमा रहे थे। अन्त में दो पुरुष दीखे। उन्होंने असहाय दयानन्द को देखा। समीप आए। अभिवादन किया और कहा-चलिए भगवन्! हमारे आवास पर सब व्यवस्था हो जायेगी। आपकी इच्छा हुई

तो 'सिद्धपत' तीर्थ तक भी पहुंचा देंगे। पर चलने में असमर्थ दयानन्द ने उनके बार-बार अनुरोध को सधन्यवाद लौटाकर मौन धारण कर लिया। उनमें बोलने का भी बल न था। मन में विचार-आया 'इस देह को यहीं समाप्त कर दिया जाय।' इतने में किसी ज्योतिष्पुरुष ने अन्तश्चेतना दी और दयानन्द को सङ्कटापन्न स्थिति से उबारा। दयानन्द तुरन्त कह उठे, "क्या ज्ञानानुशीलन में तत्पर रहकर ही जीवन का अन्त करना मेरे लिए श्रेष्ठ कर्तव्य नहीं है?" इस वचन के अनन्तर वे दोनों पर्वतीय पुरुष अकस्मात् ही अदृश्य हो गए और उसी क्षण से दयानन्द में दिव्य सामर्थ्य का सञ्चार हो चला।

महाराज को योगदर्शन का सूत्र स्मरण आया—"स्वाध्यायादिष्टदेवता-सम्प्रयोगः" उनका लक्ष्य सिद्धों का अन्वेषण था। प्रादुर्भूत होकर उन्होंने भावी मार्ग सुझा दिया। इससे अतिरिक्त, देखते ही देखते लुप्त होकर वे पातञ्जलशास्त्र के विभूतिपाद के २१ वें सूत्र की अन्तर्धान सिद्धि को भी प्रमाणित कर गये।

योगारूढ़ दयानन्द जी ने जैसी जीवन की कड़ी परीक्षा दी, वैसे ही मार्ग-दर्शक सिद्धों के उन्हें दर्शन भी हुए।

कुछ स्फूर्ति अनुभव कर श्री दयानन्द सरस्वती 'वसुधारा' तीर्थ आ विराजे। और तनिक विश्राम करके रात के आठ बजे बद्रीनारायण लौटे।

महाराज के विशीर्ण-शरीर को देखकर रावल जी समेत सभी मन्दिरवासी सिहर उठे। रावल जी के पूछने पर महाराज ने कष्टपूर्ण अपनी पूरी कथा सुनाई और भोजन करके रातभर गहरी नींद सोए। प्रातः अनुमति लेकर रामपुर की ओर प्रस्थान कर गये। वहां रात्रि में एक साधु से ब्रह्म-चर्चा की। अगले दिन धुन के धनी योगानुरागी दयानन्द जी चिलका घाटी होकर दिनान्त में रामपुर के रामगिरि सन्त से मिले। वह समाधि-भूमिका की अनुपलब्धि से रात भर रोता रहता अथवा स्वयं ही प्रश्नोत्तर में लगा रहता। महाराज के योग्य ग्राह्य सामग्री वहां न थी। वे इन सीमाओं से बहुत आगे पहुंच चुके थे।

उत्तराखण्ड से अवतीर्ण होते हुए दयानन्द जी काशीपुर होकर द्रोणसागर में विराजमान हुए। संव्वत् १९१२ का शीतकाल वहां समाप्त किया। उस वर्ष श्रावण मास दो थे। श्री दयानन्द जी ने यह पर्वतीय यात्रा बारह मास में पूरी कर ली।

राजनीतिक चर्चाएं

द्रोणसागर से उतरते हुए स्वामी जी को विदेशीय प्रशासित भारत चित्र के पारदर्शी महात्मा पूर्णानन्द सरस्वती का आध्यान हो उठा। वे सीधे उनके चरणों में कनखल हरद्वार आए। शिष्टाचार के अनन्तर श्री दयानन्द जी ने राष्ट्रोत्थान का प्रश्न किया। वृद्ध संन्यासी ने कहा—"वत्स ! राज्य से विदेशीय शासन को उखाड़ फैंकने के लिए नर्मदा तट पर सन्तवर्ग एक रूपरेखा निर्माण कर रहा है। वह सर्वथा गुप्त है। समस्त देश में निश्चित तिथि के नियत समय पर उसका विस्फोटन होगा। विरजानन्द सरस्वती पहले ही मथुरा में ऐसे स्थान पर जाकर बैठे हैं, जो राजवाड़ों के निकटवर्ती है। वे वहां से इस दशा में अपना रङ्ग दिखाने के लिए राजाओं से सम्पृक्त हैं। मुरसान, हाथरस के भूमिपति, भरतपुर, अलवर, करौली, जयपुर और गवालियर के नरेन्द्र उनकी प्रेरणा पर अवश्य सहयोग देंगे। पंजाब भी इस कार्यान्वियन में एक दशक से गतिशील है। पेशवा नाना साहब ने भी एक सङ्घटित योजना बनाली है। इस प्रकार अन्य भी भारतीयजन अपना बलिदान करने के लिए कटिबद्ध हैं।"

दयानन्द सरस्ती ने इस आमूल वद्ध सज्जा को भारत का सौभाग्य समझा और सहर्ष निवेदन किया-"भगवन् ! ऐसी स्थिति में मेरा योग-दान भी नर्मदा तट-सङ्घटन में ही श्रेयान् रहेगा। इस क्रान्तिकाल में श्री विरजानन्द जी से मेरा अध्ययन दुष्कर है।" पश्चात् उस वरिष्ठ महात्मा से आशीर्वाद लेकर स्वातन्त्र्य काङ्क्षी दयानन्द ने अपना मुख नर्मादा नदी की ओर कर दिया। अभी इस भारत क्रान्ति में डेढ़ वर्ष शेष था; अतः वे उसी के अनुरूप चलते हुए मुरादाबाद, सम्भल होकर गढ़मुक्तेश्वर में विराजमान हुए।

स्वामी जी ने नाभिचक्र में योग संयम करके शरीर रचना के सूक्ष्म अवयवों का प्रत्यक्ष कर लिया था। वे उस समय शिव सन्ध्या, हठ प्रदीपिका, योग बीज, केशराणी सङ्गीत (कुछ नाम भेद से उपलब्ध) आदि पुस्तकों का स्वाध्याय भी करते थे। उन्होंने पुस्तकों में प्रतिपादित शरीर के नाडीचक्र को साक्षात्कार से विपरीत पाया। अतः सत्यान्वेषी दयानन्द ने गङ्गानीर में बहे जाते हुए एक शव को निकाला। पश्चात् पुस्तकस्थ नाडीचक्र विषय को अभिमुख रख, उन्होंने तीक्ष्ण शस्त्र से सर्वप्रथम मृतकाय का हृदय-पिण्ड निकाला और मिलाया। अतीव सावधानी से फिर शल्यक्रिया करके नाभिचक्र का मिलान किया। शरीर के अन्य भागों की परीक्षा भी सूक्ष्मेक्षिका से की। तब योग-समाधि के प्रत्यक्षपाव-

लोकन से भी उन ग्रन्थों को विरुद्ध पाकर उन्हें शव के साथ ही गङ्गा में प्रवाहित कर दिया।

इस प्रकार मनुष्य कृत पुस्तक अप्रमाणित करके ततरचना के पारदर्शी श्री दयानन्द सरस्वती साङ्ख्य, योग और उपनिषत् आदि ऋषिकृत ग्रन्थों में आस्थावान् हो गए। वहां से चल लम्बे श्वेत गदेले के समान बिछी गङ्गा की रेती पर विचरते-विचरते वे फर्रुखाबाद, शृङ्गीरामपुर होकर संव्वत् १९१४ के आरम्भ में कानपुर पधारे। श्रावण मास तक कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों का भ्रमण करके मिर्जापुर में विन्ध्याचल अशोल जी के मन्दिर में भाद्र मास बिताया। काशी आकर वरुणा सङ्गम के निकट लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री भवानन्द सरस्वती की गुफा में निवास करते हुए काकाराम और राजाराम मूर्धन्य पण्डितों से संवाद किया। १२ दिन पश्चात् काशी से प्रस्थान कर चण्डालगढ़ (चुनारगढ़) के दुर्गाकुण्ड मन्दिर में पहुँच १० दिन तक आध्यात्मिक स्वाध्याय और योगाभ्यास रात दिन करते रहे। इन दिनों वे केवल दुग्ध-पान ही करते थे। चावल भी त्याग चुके थे। फिर दूसरे ग्राम के शिवालय में रात्रि को पहुँचे। वहां ज्यों ही स्वामी जी की दृष्टि मूर्ति पर पड़ी, उसके पीछे छिपा एक छद्मी पुरुष भयभीत होकर भाग निकला। स्वामी जी उस स्थान पर जाकर सो गए। प्रातः आकर एक वृद्धा ने शिवजी को स्नान कराया और श्री दयानन्द को चेतन नान्दी वृषभदेव समझा। अतः शिवपूजा अधूरी देख वह पुनः गुड़ और दही लाकर बोली-"नान्दी वृषभदेव! मेरी यह भेंट स्वीकार करो।" स्वामी जी भी क्षुत्पीडित थे, उस के खाने से कुछ भूख मिटाई।

संव्वत् १९१४ लग चुका था। वे नर्मदा पर रहस्य भरे आयोजन की गुप्त मन्त्रणा में सम्मिलित होने जा रहे थे, अतः किसी से भी मार्ग न पूछने का प्रण किया। दक्षिण से चलते हुये एक विकट निर्जन वन में जा फंसे। वहां कुछ पर्णकुटीर दीख पड़े। वहां जाकर दुग्ध-पान किया और चल दिये। कुछ दूर जाने पर मार्ग रुक गया। किसी प्रकार निकले, तो उससे भी जटिल जङ्गल में अपने को पाया। थोड़ी देर में एक भालु सम्मुख आ खड़ा हुआ और अगले दोनों पैर उठा, थूथड़ी घुमा, गुर्राते हुये खाने को लपका। स्वामी जी निर्भय ही रहे। उन्हें अपनी अहिंसा पर विश्वास था। मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्होंने ईश-स्मरण करते हुये शनैः शनैः अपना दण्ड ऐन्द्रजालिक की भांति ऊपर उठाया, जिस से वह तुरन्त भाग उठा। दैत्य रीछ का गुर्राना सुन कर दूध पिलाने वाले वनवासी दौड़े आए।

महाराज को सुस्थ देखकर उनके प्राण लौटे। गम्भीर होकर वे बोले, "महाराज! आगे की भी अरण्यानी हाथी, सिंह आदि हिंस्र श्वापदों से निरापद नहीं है। आप हमारे घर चलिये। हम आपकी भरपूर सेवा करेंगे।" श्री दयानन्द जी ने उन्हें प्रेम भरे शब्दों में, कहा—"आप मेरी चिन्ता न कीजिये, मैं आगे भी सर्वथा कुशल ही रहूंगा। ऐसा मुझे प्रभु में विश्वास है।"

दयालु भक्तों ने उन्हें मोटा सोटा दिया। महाराज ने आगे चलकर उसे भी फेंक दिया। थोड़ा ही पथ नाप पाये थे कि एक महत् कानन में जा घिरे, जहां से निकलना दूभर हो गया। आगे तो बढ़ना ही था—पेट के बल सरक कर झाड़ियां पार करने लगे। उससे उनका अंग-अंग छिल गया। सभी वस्त्र वन्य कंटीले झुरमुटों में उलझकर फट गये। पीठ पर खरोंचें आगयीं। लहू बह चला। अनेक स्थानों से मांसपिण्ड भी उखड़ आया। पर मन और आत्मा जब तक न उखड़े, दयानन्द कैसे उखड़े! वे यद्यपि मरणासन्न से हो गये थे; किन्तु अलखनन्दा की यातनाएं जिसने सहीं थीं, वे दयानन्द अब बहुत कठोर थे। आगे बढ़े। देह का मोह छोड़ कर बढ़े। अंधकार हो चुका था, पर विश्राम का नाम न लिया। आशा थी कि मार्ग मिलेगा, किन्तु पर्वत और ऊंचे टीले अकस्मात् सम्मुख आये देख वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। ज्यों ही एक उच्च चोटी पर चढ़कर देखा कुछ दूर वृक्षों के अंतराल से दीपक झांक रहे थे। स्पष्ट ही वे मूक बने दयानन्द पथिक को बुला रहे थे और टिमटिमाते हुये स्वागत में खिल उठते थे। दयानन्द उधर ही बढ़ गये। कुछ झोंपड़ियां आईं। समीप में एक जलधारा थी। विशाल वृक्ष था। थकावट के कारण पड़ते ही नींद आगयी। प्रातःकालीन शीतल समीर ने ही उन्हें उठाया। आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर उन्होंने अपने शरीर के व्रण धोए। फिर भजन में बैठना ही चाहते थे कि गाय बकरियों को लेकर पर्णकुटीरों से निकले बहुत-से नर-नारी, बाल बच्चे आकर उनके चहुँ ओर खड़े हो गए। एक वृद्ध ने आगे होकर पूछा—"महाराज! कहां से आए हैं? कहां पधारेंगे?" स्वामी जी ने उन भोले वन-वासियों को बताने में कुछ भी आशङ्का न कर कहा—"काशीपुर से आया हूं। नर्मदा स्रोत जाऊंगा।" वे इतना कह, ब्राह्म-भक्ति में लीन हो गए। थोड़ी देर में उनका प्रधान पुरुष दो व्यक्तियों को लेकर आया और सन्ध्या से निवृत्ति पर अपनी जाङ्गल झोंपड़ियों में चलने का निवेदन करने लगा। उन्हें मूर्तिपूजक समझ महाराज ने नकार किया। भोजन के लिए पूछने पर उन्होंने कहा—"दूध पीने का ही व्रत है।" यह सुनते ही एक मनुष्य महाराज

का तूंबा भर लाया। कुछ दूध पीकर वे वहीं विश्राम करते रहे। परिश्रान्ति और क्षतकाय अभी उन्हें आगे चलने से रोकते थे। इस कारण वे वहीं ठहरे रहे। दिनास्त होने पर मुख्य मनुष्य ने दो जनों को प्रातःकाल तक अग्नि-ज्वालन का आदेश दिया। महाराज तो गाढनिद्रा में सोकर उषा में ही उठे और ब्रह्मसमाधि से निवृत्त होकर यात्रा-पथ छोटा करने लगे। इस प्रकार चलते-चलते अन्त में नर्मदा के आदि स्रोत अमर कण्टक पर पहुँच ही गये।

श्री दयानन्द ने देखा कि भारत के भाग्योदय की सब सज्जाएं पूर्ण होने पर पेशवा नाना साहब ने साधु-सन्तों का अपना दल भारत के प्रत्येक कोने में क्रान्ति का सन्देश देने भेज दिया है। नियत समय क्रान्ति करने के लिए जनता बद्ध-परिकर हो सकी है वा नहीं ? यह जानने के लिए स्वयं भी नाना साहब और अजीमुल्ला प्रस्थान कर चुके हैं।

भारत में क्रान्ति

किन्हीं कारणों से स्वातन्त्र्य-क्रान्ति निर्धारित समय से पूर्व ही हो गयी और दौर्भाग्यवश अनेक नरेन्द्रों ने इसमें सहयोग नहीं दिया। फिर भी विद्रोहज्वाला की लपटों में ब्रिटिश की विपुल सङ्ख्या झुलस गयी। उन्होंने भी मनुष्यों, मन्दिरों तथा उनमें स्थापित प्रतिमाओं को तोपों से उड़ाने में संकोच नहीं किया। भारतीय ललनाएं भी बहुलता में काल का ग्रास बनीं। स्वामी दयानन्द ने इस भीषण सङ्कट को अपनी आंखों देखा और सोचा कि जिनके रक्षक भगवान् ही मार खाएं, उनके शरणागत क्यों न पीटे जावें। इस समय यदि श्रीकृष्ण सदृश कोई होता, तो अंग्रेजों के धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते; किन्तु शिव वा कृष्ण आदि की मूर्तियां मक्खी की टांग भी न तोड़ सकीं। यह सब मूर्तिपूजा के द्वारा जड बुद्धि हो जाने से अकर्मण्यता का निर्देश है। यदि मूर्तिपूजा के स्थान पर देशवासी शूरवीरों की पूजा करते, तो वे इस समय कदाचित् सहयोग भी देते। बाघेरे लोगों की वीरता इस विद्रोह में उल्लेखनीय बन गयी है। बहुत-से भारत-वासी मन्दिरों में मूर्तियां स्थापित करके और उनमें भगवान् की प्रतिष्ठा करके हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहे कि ये ही शत्रुओं को मार भगाएंगी।

संव्वत् १९१४ की यह दुर्दशा स्वामी दयानन्द से देखी न गयी। उन दिनो भारतीयों का बहुत जन-धन लूटा जा रहा था। ऐसे विकट क्षणों में भारतीयों का मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में तैंतीस वर्षीय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्वारोही बनकर देश का भ्रमण किया। तब विदेशी

शासकों की प्रवृत्तियां दो प्रकार की थीं—वे जहां धन लूटने में लगे थे, वहां अकड़ पूर्वक रहते हुए चुप-चाप भारत छोड़ जाने के लिए कलकत्ता की ओर भी बढ़ रहे थे। रोहतक में भालौठ ग्राम के चौधरी शेरसिंह के दादा नान्हेंराम और सेहरी खाण्डा ग्राम के दो भाई भाड़े पर अपनी गाड़ी उत्तरप्रदेश में चलाते थे। जब उन्होंने एक नगर से माल अपनी गाड़ी में भर लिया, तो बेगार लेनेवाले अंग्रेजों ने गाड़ियां वहीं रिक्त करवा लीं और लूट का धन गाड़ियों में भर दिया। जब गाड़ियां कुछ दूर पहुँची, तो सम्मुख से आते एक पुरुष ने गाड़ीवालों को चुपके-से कहा—"एक स्थान पर अंग्रेज बैलों को भी मारकर खा गए हैं। तुम्हें ईश्वर बचाए।" थोड़ी दूर चलकर दो भाइयों में से बड़ा भाई तो अवसर देखकर भाग निकला। गाड़ियां आगे चलती रहीं। कुछ दूर पहुँचने पर श्वेत वस्त्रों में दो मानव, जिनका विशाल शरीर था, जिन दो में एक का गोल मुख और बलिष्ठ दिव्य देह था, श्वेत घोड़ों पर आरूढ़ हुये मिले। कहने लगे—"तुम समय पाकर गाड़ियां छोड़ कर भाग जाओ। आगे बचने की आशा नहीं है।" इस पुनः कथन पर अब उन्हें पूर्ण आशङ्का हो उठी। सायङ्काल की वेला थी। विश्राम करने के ब्याज से उन्होंने एक तालाब पर गाड़ियां रोकीं। नान्हेंराम ने पलायित युवक के १२ वर्षीय छोटे भाई से कहा—"जब मैं भूसा लेने ग्राम की ओर चलूं, तुम रोने लगना।" उसने वैसा ही किया और अंग्रेजों ने उसे भी साथ जाने की अनुमति देदी। नान्हेंराम जी ने अंग्रेजों के रुपयों की एक थैली बग़ल में दबाकर कन्धे पर चादर डाल ली और बालक को लेकर ग्राम की ओर चले गये। रात ही रात वे १५ कोस चले। आगे जाकर उन्होंने घोड़ी मोल ली। दोनों घोड़ी पर बैठ रोहतक आगये। बैल और गाड़ियां, घोड़ी बेचकर खरीद लीं। फिर सीधे अपने ग्राम चले आये। सम्पूर्ण घटना घर आसुनाई [1]

स्वामी दयानन्द उन दिनों राज्यविप्लव में सम्मिलित होने के कारण अति प्रसिद्ध थे। घटना का बोध होने पर पण्डित बस्तीराम ने कहा— "दो अश्वारोहियों में गोल मुखवाले तो स्वामी दयानन्द थे। उन्होंने परिस्थितिवश श्वेत वस्त्र धारण कर रक्खे हैं [2]

उन दिनों कभी-कभी श्री दयानन्द यति पदाति ही भ्रमण करने लगते थे। अपने इस पर्यटन में उन्होंने गङ्गा उद्गम से गङ्गा सागर और रामेश्वरम् तक सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी। वे प्रतिदिन चालीस कोस चलते थे।

---

[1] भालौठ (रोहतक) निवासी आर्यसमाज के प्रधान श्री शेरसिंह जी का वक्तव्य, जो उन्होंने अपनी दादी से सुना था।

[2] पण्डित बस्तीराम ने स्वामी दयानन्द जी के अनेक बार दर्शन किये थे।

स्वतन्त्रता की इस विफलता के मूलतत्त्वों की गवेषणा में श्री दयानन्द जी का देशाटन अतिगम्भीर था। भारतवासियों में विदेशियों की चाटुकारिता, स्वदेशीय गौरव का विस्मरण और निजपौरुष की हीनता का तीन वर्षों में अन्वेषण करके वे अपने क्रान्ति स्रोत नर्मदा तट पर पहुँचे। अन्य संन्यासिवर्ग से भी अपने विचारों का सम्मिलन किया; पर वास्तविक व्यापक सुगम निराकरण किसी के बुद्धिगम्य न था। अन्ततः अगत्या वे वहीं दर्शन-चर्चा में प्रवृत्त हो गए।

स्वामी विरजानन्द के चरणों में

देश का दुर्दैव स्वामी दयानन्द के मस्तिष्क को सन्तुलित न रहने देता था। इस हेतु उन्हें क्रान्ति में सहाय, राजवृन्द से सम्पृक्त स्वामी विरजानन्द सरस्वती का स्मरण हो आया। वे उनकी बुद्धि में उत्पन्न राज्य उलटने की विफल प्रक्रिया को अवगत करने के लिए काशी प्रभृति विद्याकेन्द्रों को पीठ पीछे कर मथुरा की ओर चल पड़े। मध्य में हाथरस और मुरसान पड़े। मुरसान में श्री विरजानन्द जी का शास्त्रार्थ हो चुका था। वहां उनके शास्त्र-विजय से आकृष्टचित्त दयानन्द जी मथुरा में आकर सर्वप्रथम रङ्गेश्वर मन्दिर में विराजमान हुए। कुछ दिनों तक विरजानन्द जी के संस्ताव श्रवण में अपना चित्त लगाया। सर्वथा विश्वस्त हो उन्होंने विरजानन्द जी का द्वार आ खटखटाया। यह संव्वत् १९१७ का प्रारम्भ था। उनकी पाठशाला संयान स्थात्र (रेलवे स्टेशन) से यमुना के विश्राम घाट को जानेवाली रथ्या (सड़क) के पार्श्ववर्तिनी एक गृह-अट्टालिका में थी। ड्योढी खुलने पर ८१ वर्षीय चक्षुर्विहीन विरजानन्द जी को दयानन्द जी ने अभिवादन किया। पारस्परिक विद्याध्ययन वार्तालाप के अन्त में प्रज्ञाचक्षुः जी ने कहा—'अब तक आपकी शिक्षा में अधिक अंश अनार्ष है। उसका विस्मरण करके सर्वथा ऋषि-पद्धति का आश्रय लो। तीन वर्षों में व्याकरण महाभाष्य पर्यन्त हो जाता है। यह प्रणाली प्रगल्भ विद्वान् का निर्माण करती है।

श्री दयानन्द सरस्वती मनुष्यकृत ग्रन्थों को निष्प्राणदेह की शल्यक्रिया से परीक्षित करके पूर्वतः ही उन्हें हेय सिद्ध कर चुके थे; अतः गुरु जी की भी ऐसी ही धारणा देख वे अति श्रद्धान्वित हो बोले, 'जो आज्ञा'।

"हम संन्यासियों को नहीं पढ़ाते; क्योंकि भोजन-अव्यवस्था उनके अध्ययन

में बाधा डालती है।" गुरुवर्य के इन वचनों पर दयानन्द बोले—'इसकी आप चिन्ता न कीजिए। खान-पान का प्रबन्ध मैं कर लूंगा और विद्या में अनध्याय नहीं होने दूंगा।"

स्वामी विरजानन्द जी को यह ही अभिप्रेत था; अतः पढ़ने की स्वीकृति दे दी।

ब्रह्मर्षि विरजानन्द ने योगी दयानन्द को मनुष्य बुद्धि का एक निदर्शन सुनाया—"एक समय विद्वत्समाज में परस्पर वाद हुआ। अनुभूति स्वरूप के मुख में दांत न थे। 'पुंसु' के स्थान पर उनकी वाणी से 'पुंक्षु' निकल गया। साधारण-सी बात थी दयानन्द! किन्तु पण्डितों की आपत्ति पर उसने उसे ही शुद्ध प्रमाणित करने के लिए रातों रात "सारस्वत" व्याकरण की रचना कर डाली और कहा—देखो 'पुंक्षु' ही यहां पर सिद्ध किया है। विरजानन्द जी ने आगे कहा—'दयानन्द! आज से स्थिर आस्था करलो—ऋषियों जैसा उपकारी कोई नहीं है। वे मान-गौरव के चक्र में न फंस, यथार्थ कहने की शक्ति रखते हैं। उनकी विषय-प्रतिपादन शैली भी सरल, सुन्दर, सत्यबोधक और हृदयग्राहिणी होती हैं; क्योंकि वे परार्थ ही प्रवृत्त होते हैं। उनका अपना प्रयोजन नहीं होता।

श्री दयानन्द जी की भिक्षा का प्रबन्ध कुछ दिनों तक दुर्गाप्रसाद जी क्षत्रिय ने किया। फिर अमरलाल एक गुजराती औदीच्य ब्राह्मण से स्वामी जी का परिचय हो गया। उस उदारचेता ब्राह्मण ने महाराज को विद्या-समाप्ति तक प्रतिदिन अपने यहां ही खाते रहने का अनुरोध किया। वह इतना श्रद्धालु था कि स्वामी जी को अन्न देकर ही स्वयं ग्रहण करता था। स्वामी जी ने उसका अति आभार प्रकट किया है। वह ज्योतिर्विद्या का पारदर्शी था। प्रसन्न होकर महाराजा सिन्धिया ने १०-१२ ग्राम उसे आजीविका के लिये दे रक्खे थे। प्रतिदिवस सौ ब्राह्मणों की भी वह उदरपूर्ति कराता था। पच्चीस पैसे (चार आने) रात्रि में पढ़ने के लिए श्री गोवर्धन आभूषण-विक्रेता स्वामी दयानन्द जी को दिया करते थे और दो रुपये मासिक हरदेवसहाय दूध के लिए। पुण्य सञ्चय में अहो! इन तीनों का कितना योग था।

आवास का स्थान श्री दयानन्द जी ने कालिन्दी नदी का पावन शीतल तट चुना। लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में बारने पर ही एक व्यक्ति के निवास योग्य

छोटी कोठरी मिल गयी। उसके एक पक्ष में वनस्थली की रम्यता और दूसरे ओर खिड़की से यमुना का मनोरम सौन्दर्य देख दयानन्द खिल उठते थे।

श्री विरजानन्द के मेधा-वैभव और आर्षप्रणाली की सर्वत्र धाक् थी। उस अद्वितीय विद्या-व्याख्याता को अनुपम अन्तेवासी अन्त में मिला। चेले ने श्रद्धा-प्रेरेक में गुरुदेव को स्नान कराने का कार्य स्वयं अपने अधीन किया। इसके लिए वे प्रतिदिन यमुना से जल लाते थे और पीने के लिये स्वच्छधारा से। वर्षा हो, आंधी हो, शीत हो, उन्होंने काल-व्यतिक्रम कभी नहीं किया। मार्ग में अधोदृष्टि रहते हुये आदर्श साधु कहे जाते थे। दिव्य कान्तिमय उनके लोकोत्तर काय से अनोखी छटा छिटकती थी। उनका वज्रमय शरीर मल्लतल्लजों को भी तिरस्कृत करता था। श्री दयानन्द जी ने गुरु-गृह-परिमार्जन का कार्य भी अपने हस्तगत किया। इस सब से उनके प्रति गुरुदेव की अनुराग लता पुष्पित हो उठी।

अष्टाध्यायी कर चुकने पर महाभाष्य आरम्भ कर दिया गया।

संवत् १९१४ के पराजय के उपरांत ही गुरु विरजानन्द ने देश में मौलिक परिवर्तन लाने के लिये आर्ष ग्रन्थों का अध्यापन आरम्भ किया था। भागवत, पुराण, कौमुदी आदि अर्वाचीन पुस्तकों के स्थान पर वे वेद, उपनिषद्, ऋषि-कृत आर्ष-दर्शन और अष्टाध्यायी महाभाष्य को सर्वोच्च कृतियां निर्धारित कर उन्हें मूल पर ही पढ़ाते थे।

गुरुवर शिष्य की शङ्काओं का समाधान करते न अघाते थे और शिष्य भी कोई शङ्का शेष न रखते थे। दयानन्द की तर्कचातुरी पर श्री विरजानन्द चकित थे। वे उसे कालजिह्व कहते थे। दूसरों के वितर्क तर्कों पर उसकी जिह्वा काल बन जाती थी। पर एक दिन दयानन्द को भी उसकी मेधा ने धोखा दिया। गुरु जी पिछला सुने बिना अगला न पढ़ाते थे। यह अटल नियम था। दयानन्द के लिये विशेष था। एक दिन पाठ सुनाते समय वे व्याकरण की प्रयोग-सिद्धि भूल गये। गुरुदेव को कदाचित् उनसे यह आशा न थी किन्तु दयानन्द आगे अवेक्षा न करे, क्षमा न किया और कहा—"जाओ, यदि प्रयोग स्मरण न हो आए, तो भले ही यमुना में कूद कर मर जाना; पर मुझे मुख न दिखाना।" आदर्श गुरु के आदर्श शिष्य को आदर्श आदेश स्वीकार हुआ। वे सीताघाट के उच्च शिखर पर जाकर

समाधिस्थ हो गये। अतिपरिश्रम से श्रांत हो जाने पर उन्हें निद्रा ने आदबाया। उस समय स्वप्न में उन्होंने देखा कि कोई उन्हें स्पष्टतः प्रयोग-साधन-विधि समझा रहा है। दयानन्द प्रकर्ष हर्ष में गुरु के शरण हुए और गुरु जी पाठ सुनकर रोमाञ्चित हो उठे। अतुल चेले को गले लगाया। प्रेमाश्रु बह चले।

गुरु विरजानन्द ने शिष्य दयानन्द के समक्ष ऋषि-कृत-कृतियों की उपादेयता का प्रकाश तो किया, किन्तु इससे अतिरिक्त भी उन्हें क्या अभिप्रेत है ? इसका प्रकटन अभी तक न किया था। जब दयानन्द जी गुरुपरिचर्या के माध्यम से अति सन्निकटता में आगये और क्रांतिपश्चात् तीन वर्षों के देश-भ्रमण की इतिवृत्तता दयानन्द वाग्मी से सुन चुके, तब राजनयिक गोष्ठी के लिये दयानन्द को विश्वस्त समझ वे एकान्त में उनसे वार्तालाप करने लगे। उस समय वे रहस्य प्रकट किये जाने लगे, जो अब तक अंतर्गुहा में अंतर्हित हुये किसी प्रतीक्ष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। श्री दयानन्द जी को अब प्रतीत हुआ कि मेरी भावनाओं के समान विचार भी किसी कोने में लुके पड़े हैं। वे गुरु महाराज की देशोद्धारक वार्ता को सोत्कण्ठित सुनते थे। इस विषय में भी विरजानन्द जी श्री दयानन्द के लिये आलोक बन गए।

एक दिन की बात है—श्री दयानन्द जी सदा की भांति कालिन्दी पुलिन पर ध्यानावस्थित थे। स्नानांत में एक देवी ने श्रद्धा से उनके चरणों में प्रणाम किया। महिला के क्लिन्न-केशपाश के छू जाने से दयानन्द चौंक उठे और माता-माता कहते हुए गोवर्धन के विविक्त मंदिर में चले गए। दयानन्द यद्यपि वासना-संतान से शून्य थे, तथापि ब्रह्मचर्य के नियम किसी समय भी ब्रह्मचारी को स्त्री स्पर्श का आदेश नहीं देते। अतः इस संस्कार के भी उन्मूलन में वे वहां निरन्न-जल रह कर निरन्तर तीन दिन और तीन रात आत्मचिंतन करते रहे। पाठशाला में अनुपस्थिति का कारण पूछने पर जब प्रायश्चित्त की तथाभूत कथा सुनाई, तो आचार्य विरजानन्द की इच्छा लता में सुमन खिल उठे।

शिक्षावसान पर यद्यपि श्री विरजानन्द सरस्वती ने किसी से दक्षिणा ग्रहण नहीं की तथापि शिष्टाचार समन्वित दयानन्द जी अपनी विद्या-समाप्ति पर आधा सहस्रधान्य (किलो) लौंग, जो गुरुवर को प्रियतर थे, लेकर श्री चरणों में उपस्थित हुए। गुरुदेव ने कहा—"ये तो कहीं से भी उपलब्ध हो सकते थे दयानन्द ! मुझे तो

वह वस्तु अपेक्षित है, जिसकी तुम से भिन्न किसी दूसरे से अब आशा नहीं है।" दयानन्द इतना सुनते ही समझ गये और अपना मस्तक श्री चरणों में रखते हुए बोले—"गुरुदेव ! आज से मेरा तन, मन आपके समर्पित है।" गुरु ने अन्तिम आशीर्वचन कहे—"वत्स ! अब तुम्हारा सब कुछ मेरा हो चुका है। मेरा मनोभिलाष पूरा करो। उसकी पूर्ति में प्राण भले ही चले जायें, पर वेद प्रचार, ऋषि-ग्रन्थों के विस्तार और पाखण्ड-खण्डन से जनसामान्य को पुनः गौरवान्वित करके भारत में स्वराज्य का अटल सूत्रपात करो।"

चक्षुर्विहीन, किन्तु चक्षुष्मान् के समान ब्रह्मर्षि विरजानन्द कितने साहसी, विदग्ध और विचारवान् मानव थे, जिनके सान्निध्य में दयानन्द जैसा निपुण योगी, जो विश्व का आमूल परिवर्तन करने हेतु आचार्य चरणों से पृथक् हो रहा है, रह कर उन्हें अति कृतज्ञदृष्टि से देखता रहा और अन्त में उसी यति विरजानन्द को अपने प्रणीत पावन पुस्तकों के द्वारा अपना गुरु घोषित करता रहा है, न कि संन्यास-दीक्षादायी श्री पूर्णानन्द सरस्वती को, और सचमुच यह भी एक अद्भुत ऐतिहासिक न्यादर्श ही है कि किसी अखण्ड ब्रह्मचारी विद्यार्थी ने अखण्ड ब्रह्मचारी गुरु के साथ दक्षिणा का ऐसा विचित्र सामञ्जस्य सत्यता और यथार्थता में निभाया हो।

[वैराग्य कण्डिका समाप्त]

गङ्गा कण्डिका

जीवन का लक्ष्य

संव्वत् १९२० वैशाख का अन्त था और भगवान् दयानन्द कार्य-क्षेत्र में उतरे थे । तब उन्होंने जीवन के दो निम्न उद्देश्य निर्धारित किये।

प्रथम—अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की स्थापना के लिए स्वदेशीय नृपों और जनता को उनके कर्तव्य समझाकर प्रोत्साहित करना ।

दूसरा—सत्य विद्या का प्रचार करना, जिससे एक वार प्राप्त किया गया राज्य कभी भी नष्ट न हो ।

इन दो भावनाओं को हृदय में संजोकर वे आचार्य के विद्या भवन से पृथक् हुए और सर्वप्रथम आगरा पहुंचे । वहां कालिन्दी नदी पर बैठा एक सन्त श्री दयानन्द जी के दर्शन मात्र से ही परितृप्त हो गया । उसने तुरन्त धर्मानुरागी महाप्रेषपति (जनरल पोस्ट मास्टर) रायबहादुर सुन्दरलाल तथा अन्य नागरिक वृन्द को प्रभु दयानन्द के शुभागमन का सन्देश दिया । रात्रि के दो घण्टे तक वहां महाराज ने गीता-कथा का सूत्रपात किया । उनके कण्ठमाधुर्य, स्पष्टोक्ति और अर्थ विश्लेषण पर श्रोतृजन मुग्ध थे । दूसरे मास 'पञ्चदशी' का आरम्भ किया, किन्तु उसमें ईश्वर को भी भ्रमोत्पादन के प्रतिपादन को देखकर तत्काल उसे बन्ध कर दिया । श्री विरजानन्द जी ने दयानन्द सरस्वती को मुथरा से प्रस्थान करते समय अनार्ष ग्रन्थों के परीक्षण की यही कषवटी दी थी कि उनमें ईश्वर और ऋषि मुनियों के स्वरूप को सर्वथा अन्यथा ही वर्णन किया है । तथा अल्पमनीषी मनुष्यों के चरित्र को उच्च आसन पर आसीन किया है, अतः वे हेय हैं ।

यतिवर्य्य को सब प्रकार के लोगों की उन्नति अभीष्ट थी । कई एक को नेती धोती और न्योली क्रियाएं सिखा कर उनके कायिक रोग दूर किये । बहुतों में तीस सहस्र की संख्या में सन्ध्या पुस्तक छपवाकर वितरण किये । यह उनकी प्रथम रचना थी । इससे भिन्न भागवत, पुराण और प्रतिमा-पूजन का खण्डन करने 'पाखण्डखण्डनम्' एक संस्कृत पुस्तक का प्रणयन किया । ऋग्वेद और महाभारत का गम्भीर परिशीलन किया । आप शङ्काओं की निवृत्ति पत्रों द्वारा अथवा स्वयं गुरुवरेण्य के पादपद्मों में जाकर कर लेते थे ।

निराकार ब्रह्म के उपासक श्री दयानन्द जी कभी-कभी अठारह घण्टे का समाधि भी लगाते देखे गये थे। उनका यह ईश्वर आराधन तो दैनिक कृत्य ही था।

आगरा में ऋषि मुनियों के प्राचीन एवं नवीन ग्रन्थ बहुत मिले। दो वर्षों तक स्वामी जी ने उनका गम्भीर स्वाध्याय भरपूर आलोचनापूर्वक किया। इसके साथ प्रति-दिन वे सत्सङ्ग लगाते और अज्ञानियों को ज्ञान जाह्नवी में अभिषिक्त कर उन्हें नितान्त निर्मल बनाने का यत्न करते। इस उपकारिता को नागरिक जन पुनः-पुनः स्मृति पटल पर लाते हुये न थकते थे।

धौलपुर के लिये आगरा छोड़ने से पूर्व आर्ष दयानन्द ने गृहस्थों को अपनी अनुपस्थिति में योगाभ्यास चालू रखने से वर्ज दिया; क्यों कि निरीक्षण के बिना सम्भावित बाधा का निराकरण असम्भव था।

धौलपुर में १५ दिन निवास कर, साहित्य-अन्वेषण के निमित्त यतिभूषण आबू पर्वत पर चले गये।

अन्ता राजनयिक श्री स्वामी जी शनैः शनैः राजाओं से भी सम्बन्ध स्थापित करने में चेष्टावान् थे। शताब्दियों से अनार्ष ब्राह्मणों के कुचक्र में फंसे नर शार्दूलों को वे वास्तविक भारतीय संस्कृति सिखाकर ही गौरवान्वित करना चाहते थे। इसके लिए गवालियर नरेश जियाजीराव सिन्धिया को ही उन्होंने प्रथम अपना लक्ष्य बनाया। उसने ऋषि-विद्वेषी द्विजों को आमन्त्रित करके भागवती कथा का आयोजन किया था। ज्योतिष्कुशल पण्डितों के परामर्श से माघ शुक्ला नवमी संव्वत् १९२२ को आरम्भ कर के माघ पूर्णिमा के दिन उसकी समाप्ति का निश्चय था। नरेश ने श्री दयानन्द जी के समीप भी एक राजपुरुष भेज कर इसका माहात्म्य पूछा। दिव्य दयानन्द ने हंसते हुये कहा—"ऐसे कर्म दुःख और क्लेश के ही जनक होते हैं।"

रामकुई पर विराजमान श्री दयानन्द जी उस भागवत-वाचन के दिनों में उसका खण्डन करते रहे। कथा पूरी होते ही महारानी का पाञ्चमासिक गर्भ गिर गया। जिस छोटे राजकुमार के दीर्घायुष् की कामना से वह समारम्भ था, वह परलोक सिधार गया। सम्पूर्ण नगर भी विषूचिका से आक्रान्त होकर हाहाकार कर उठा।

महाराज की इस सत्योक्ति के परिणाम स्वरूप उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए कोई भी आगे न आया।

इसके अनन्तर करौली पधार कर श्री महाराज ने भद्रावती नदी के तट पर ठहरना निश्चित किया। करौली के महीपाल श्री मदनपाल ने उनका भोजन से आतिथ्य किया। प्रभात के नित्यकर्म करने श्री दयानन्द जी गुदड़िया बाबा के मन्दिर के समीपवर्ती वन में जाया करते थे। करौली के नरेन्द्र श्री मदनपाल उक्त सन्त में अतीव आस्थावान् थे। वह कबीर पन्थी था। उसने कबीर का अर्थ 'एक वीर' बताया और कहा—"एक कबीरोपनिषत् भी है।"

मणिराम पुरोहित ने करौली के महाराजा से सङ्कल्प-उच्चारण कराते समय 'करिष्ये' के स्थान में 'करिस्ये' बोला। तब स्वामी जी ने नरपति से कहा—"आप अच्छे मूर्ख मुण्डों और पण्डितों के पाश में फंसे हो। इस प्रकार आपकी सारी ही सभा अविवेकिनी है।" एक अन्य द्वारा राजा को 'अन्नदाता' कहे जाने पर स्वामी जी बोले—"अन्नदाता तो भगवान् है। देखो ब्राह्मण अपना स्वाभिमान छोड़ कितना पतित हो चुका है।"

इस प्रकार करौली नरेश को सचेत कर दयानन्द दिवाकर ने जयपुर नगर को आलोकित किया। महाराजा रामसिंह के लब्धप्रतिष्ठ एवं विद्वान् लक्ष्मणनाथ ने वाणी-चर्चा करके उन्हें 'महायोगी' और 'सकल शास्त्र पारगामी' उपाधि से बिभूषित किया और निवेदन किया—"भगवन्! आप यहीं मन्दिर में विराजिए और मतवादियों से होनेवाले शास्त्रार्थ में हमें सहयोग दीजिए।"

"यदि शास्त्र-समर में मुझे आमन्त्रित करना अभीष्ट है," स्वामी जी ने कहा—"निश्चय समझिए, मैं अपने अनुकूल ही कहूंगा।"

स्वामी जी मन्दिर में नहीं ठहरे। विचारकों के लिए उन्होंने १५ प्रश्न लिखकर भेजे। जिनमें व्याकरण महाभाष्य के दो ये भी थे—(१) कल्म च कि भवति? (२) येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत् कर्म? इन प्रश्नों पर विद्वन्-मण्डल निरुत्तर हो घर पर बैठे ही गाल बजाता रहा।

एक विद्याभिमानी जैन यति ने महाराज के सम्मुख होने का साहस किया पर वह भी उस वाक्केसरी के दो वाक् तर्कों से ही निर्वाक् हो गया।

कार्तिक से चैत्र कृष्णा ५ संव्वत् १९२३ के इस काल में जयपुराधिपति रामसिंह पर श्री दयानन्द की वाग्मिता का कोई प्रभाव न पड़ा।

हां, उनका अगाध बोध सुन, साधुसङ्गाभिलाषी धर्मनिष्ठ ठाकुर रणजीत सिंह ने उन्हें अपने यहां अचरौल आमन्त्रित किया। वहां पहुंचते ही उनकी कीर्ति

चन्द्रिका जन-जन में छिटक गयी। अनेक विद्यार्थी श्री चरणों में उपस्थित हो, अष्टाध्यायी, महाभाष्य और धातुरूपावली पढ़ने लगे। ठाकुर महोदय और उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रजासहित उपस्थित होकर गीता, मनुस्मृति, बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य के प्रवचन सुन अपने दुर्व्यसनों का परिवर्जन भी करते जा रहे थे। चार मास के इस विद्या विलास की चर्चा जब जयपुराधीश के प्रासादों में पहुँची, तो वह अपनी धृष्टता पर बहुत लज्जित हुआ। उन दिनों जयपुर में वैष्णवों और शैवों में सङ्घर्ष था; क्योंकि वैष्णव मत की अनेक अशिष्ट लीलाएँ सिर पर चढ़कर बोल रही थीं, उसे धूलिधूसर करने के मिष से जयपुर नरेश ने स्वामी जी को अचरोल से बुलवाया। वहां श्री दयानन्द जी ने अपने साढे चार मास के निवास में विष्णु सम्प्रदाय का खोखलापन दिखाकर अपेक्षाकृत उत्कृष्ट शैव मन्तव्य की ऐसी स्थापना की, जिस से वैष्णव जनसमूह सर्वथा मुरझा उठा। शिव-सिद्धान्त के स्थापन में स्वामी जी ने मूर्तिपूजा का विधान नहीं किया। फिर भी उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने से अनेक ठाकुर भगवान् दयानन्द के भक्त बन गए। शैव मतावलम्बी जयपुर नरेन्द्र पण्डितमणि दयानन्द के गुणगान तो करता था; पर कुल परम्परा की पौराणिकता का आधिपत्य उसकी चोटी पर चढ़कर बोलता था।

इस प्रकार राजाओं, राज्यकर्मचारियों और प्रजाजनों में स्वराज्य-मूल का वैदिक नाद करते हुए दयानन्द सरस्वती बगरू, दूदू होकर कृष्णगढ़ से अजमेर पधारे। वहां विशेष तात्कालिक कार्य-क्रम न देख चार दिन ठहर कर पुष्करराज में आविराजे। वहां ब्रह्मा मन्दिर का अधिपति उनके सहवास से श्रद्धान्वित हो उठा। उसने व्यङ्कट शास्त्री को श्री दयानन्द जी से वाग्युद्ध करने को ललकारा; पर जब वह बौद्धिक गोष्ठी में न ठहर सका, तो सरल प्रकृति होने के कारण स्वामी जी का भक्त बन गया।

सम्राट् प्रभु दयानन्द जी अपनी इस प्रव्रज्या में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए देशीय नृपों के स्वाभिमान की टटोल कर रहे थे; पर वह अभी तक उन्हें उनमें न दीख पड़ा। पण्डितों द्वारा आर्षशिक्षण शैली को अर्धचन्द्र देकर पौराणिकपने का अवलम्बन किया जाना ही इस निज गौरव के परित्याग का निमित्त था; अतः श्री स्वामी जी पुराण-पुस्तकों की असारता दिखाने के लिए शास्त्र-समर में पण्डित-गण का आह्वान करने लगे।

पुष्कर मेले में श्री दयानन्द जी द्वारा यथार्थता का निरूपण करने से जब अनेक तीर्थयात्रियों ने गले से उतार कर कण्ठियों के ढेर लगा दिए, तब ब्राह्मणों

ने व्यङ्कट शास्त्री को फिर आगे करने का प्रयास किया; किन्तु उसने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि उनसे क्या विवाद करें, वे जो कहते हैं, उसमें मिथ्या का लेश भी नहीं है।

श्री दयानन्द वाग्मी द्वारा पैर उखड़ते देख अनेक महन्तों और पुजारियों ने मूर्ति-पूजा के बहाने नैवेद्य आदि चढ़ावा अपनी जीविका का धन्धा ही माना। तब स्वामी जी बोले—"पढ़ लिखकर सत्य प्रचार से भी तुम सभी अत्यधिक आदर और खाद्य सामग्री प्राप्त कर सकोगे।"

२१ दिन पश्चात् महाराज पुनः अजमेर लौट आए। वहां ग्रे, राबसन और शूलब्रेड प्रमुख पादरियों से धर्मालाप किया। वे ईसाइयत को सब मतों से उच्च पीठिका पर बैठाते थे। आचार्य दयानन्द ने उनके साथ ७, ८ दिन तक ईश्वर, सृष्टि-क्रम, वेद, ईसा का ईश्वर न होना आदि विषयों पर शास्त्र-चर्चा करके उन्हें परास्त कर दिया। एक संस्कृतज्ञ भारतीय संन्यासी द्वारा ईसाई सिद्धांतों के गम्भीर अध्ययन और पर्यालोचन से पादरीवर्ग को बहुत धक्का लगा। उसे भान हुआ कि भारत में ईसा का प्रचार करके जो हम अपने शासन को स्थिर रखने के स्वप्न ले रहे हैं, साधु दयानन्द उनकी जड़ खोखली करने में लगे हैं। बृटिश प्रशासन की ओर से यदि इसका कोई प्रतिकार नहीं किया गया, तो दयानन्द के तर्क सब मतों की धज्जियां उड़ाकर भारतवासियों को उनके अपने सर्वप्रिय वैदिक मत की एक लड़ी में पिरोकर सङ्घटित कर देंगे। अंग्रेजों के लिए यह अति दौर्भाग्य की बात होगी। इस कारण पादरी शूलब्रेड श्री दयानन्द जी को यहां तक कहने के लिए धृष्ट हो गया कि देखो दयानन्द ! ऐसी कथनी से आपको कारा-वास भोगना पड़ेगा। इस पर अद्वितीय देशोद्धारक ने तुरन्त कहा—"सत्य के अवलम्बन से मैं सर्वथा निर्भय हो गया हूं। कारावन्धन में भी मैं ईसाइयों के अहित का एक तरङ्ग भी मन में न उठने दूंगा।"

राजनीति-निपुण श्री स्वामी जी का यह प्रकट मन्तव्य था कि सम्पूर्ण भूमण्डल में यदि वैदिकता छा जाये तो किसी के मन में भी दूसरे के अधिकारों को स्वायत्त करने की भावना न रहेगी। यदि किसी का राज दूसरों पर है भी, तो उसे प्रजा पर पुत्रवत् प्रेम करना चाहिए। इसका अर्थ है—"प्रजा को वैदिक-धर्मी बनाना।" इसी वार्ता को लक्ष्य में रखकर श्री दयानन्द जी ने अजमेर मण्ड-लायुक्त श्री ए० जी० डेविडसन का ध्यान राज्यकर्तव्यों की ओर आकृष्ट किया। उसके यह कहने पर कि प्रशासन धर्म विषय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, स्वामी जी के मन में यह धारणा दृढ़ होगयी कि "कोई कितना ही करे, परन्तु जो

स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित अपने पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय एवं दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

निराश न होकर वे पुनः अपटन महोदय सहायायुक्त से मिले। इनसे अतिरिक्त महाशासक के अभिकर्ता कर्नल ब्रुक से गोहत्या विषय में पौन घण्टा वार्तालाप किया। वे गैरिक वस्त्रधारी से चिढ़ा करते थे; पर आश्चर्य है-वे स्वामी जी से प्रभावित हो कह उठे—"यद्यपि आपका वक्तव्य सत्य है, तथापि इसे बन्ध करना मेरे हाथ से वहिः है। मेरा पत्र लेजाकर आप लाट महोदय से मिलिए, वे आपका यथोचित सम्मान करेंगे। जो भी इस पत्र को देखेगा, आपकी आवभगत करेगा।"

कर्नल ब्रुक ने एक पत्र जयपुराधिपति को भी लिखा कि खेद है कि आप एक सुलझे हुये विद्वान् से सम्पर्क न कर सके।

एक दिन तैलङ्गी महाराष्ट्रीय दो संस्कृत भाषा भाषी महात्माओं ने आकर यतिवर्य दयानन्द से कहा—"हम अब सब प्रपञ्चों से मुक्त और सर्वथा विरक्त हैं।" किन्तु वार्तालाप में ही कुछ काल पश्चात् उन्हें आवेश आगया। महाराज बोले—"अभी अहङ्कार-मर्दन शेष है।" इतना सुनना था कि वे लज्जा से भूमि कुरेदने लगे।

रामस्नेहियों के महन्त को शास्त्रालाप के लिये स्वामी जी ने बुलाया, तो उन्होंने यह सन्देश भिजवाया—"हम किसी का अभ्युत्थान नहीं करते और न ही गद्दी से नीचे उतरते हैं।" सुधारक दयानन्द चूकने वाले न थे, तभी सूचना भिजवाई—"मुझे स्वागत कराने और गद्दी पर बैठने की इच्छा नहीं है। मैं नीचे बैठ जाऊंगा, पर शास्त्राचर्चा अवश्य कीजिये।" यह जानकर कि यह बात टाले नहीं टलेगी, वे रात में ही विष्टर बोरिया समेट वहां से चलते बने।

अजमेर से लौटते हुये महाराज किशनगढ़ रुके। वहां का राजा पृथ्वीसिंह वल्लभ मतानुयायी था। भागवत पुराण वल्लभ सम्प्रदाय का प्राण होता है; अतः भागवत मत खण्डक श्री दयानन्द जी से वैमनस्य निकालने के निमित्त उसने ४०-५० विशृङ्खल पुरुष उनके डेरे पर भेजे। उनकी मान्यता को जब तर्क शिरोमणि यति दयानन्द छिन्न-भिन्न करने लगे, तो वे उन्हें मारने लपके। उस समय वाक्केसरी दयानन्द सहसा दहाड़ने लगे—"तुम सब की हेकड़ी तोड़ने को मैं अकेला ही पर्याप्त हूं, इतने में अकस्मात् ही कुछ श्रद्धालु श्रीमाली ब्राह्मणों को आता देख वे सब तितर बितर होगए।

किशनगढ़ में पांच दिन निवास कर दयानन्द यतिराज दूदू बागरू ठहरते, उपदेश देते दो-तीन दिन में ही अचरोल के ठाकुर रणजीतसिंह के उद्यान में आविराजे। उनके शुभागमन का सन्देश, जयपुर नरेन्द्र को भेजा गया। अनेक निमन्त्रणों पर जब स्वामी जी राजप्रासादों में पहुँचे तो अभागा वह जयपुराधीश अन्तःपुर में पहुंच चुका था। इस अशिष्ट आचार से आक्रुष्ट होकर वे वहां से लौट आये। पुनः अनेक प्रयासों पर भी वहां नहीं गए।

आधा आश्विन यापन करके दयावतार दयानन्द जी जब जयपुर से प्रस्थान करने लगे तो अनेक भक्तों के प्रेमाश्रु टपकने लगे। मस्करी दयानन्द ने उन्हें चेतना देते हुये कहा—"मन को भारी मत करो। हमारे उपदेश हंसाने वाले होते हैं, रुलाने वाले नहीं।"

वृटिश उपराज लारेंस के अभिनन्दन में उन दिनों राजसभाओं का आयोजन आगरे में किया जा रहा था। उस आकस्मिक अवसर से लाभ उठाने के लिये स्वामी जी कार्तिक बदी नवमी संव्वत् १९२३ को आगरा जा पहुंचे। उपराज लारेंस के किये जाते सम्मान को देखकर यतिकुलमणि दयानन्द के मन में स्वभावतः ही देशीय नृपों के प्रति यह धारणा उत्पन्न हो उठी कि ये सब आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए और इसी देश का अन्न-जल खाते पीते हैं, तब अपने माता-पिता और पितामह के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशीय मतों पर झुक जाना इनका स्थिर और बुद्धि-कारक कार्य कैसे हो सकता है? यह ही हेतु है कि स्वदेश भक्ति से विमुख उस जनसमुदाय को श्री दयानन्द जी अपनी उपदेश वृष्टि से स्वच्छ बनाने का यत्न करते रहे। इससे अतिरिक्त वहां वैष्णव-खण्डन में लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित करके वितरित करायीं। उनमें से बहुत-सी हरद्वार मेले के लिये सुरक्षित रख लीं।

गुरु शिष्य का अन्तिम मिलन

श्री दयानन्द सरस्वती के जीवन में अब तक का यह कार्य केवल गुरु-आदेश का उपक्रम मात्र ही था। उसकी यथाविदित कथा सुनाने, वे मथुरा आकर गुरुचरणों में प्रणत हुए। एक सुवर्ण मुद्रा तथा एक स्वदेशी मलमल का थान गुरुराज को उपहृत किया। श्री दयानन्द जी की उत्कृष्ट प्रचार शैली को सुनकर ब्रह्मर्षि विरजानन्द जी गद्गद् हो उठे। उन्होंने प्रेमपूर्ण वचनों से शिष्य को आशीर्वाद दिया। इस प्रकार मथुरा में वास कर श्री दयानन्द जी अनेक दिनों तक गुरुवर्य से संशयोच्छेदन कराते रहे। हरद्वार मेले के दिन निकट आते जा रहे थे,

इस कारण गुरुदेव को प्रणाम कर वे पुनः वेद-प्रचार के ही मञ्च पर आरूढ़ हो गए। बस, गुरुशिष्य का यह अन्तिम मिलन समझना चाहिए।

वहां से मेरठ पहुंच कर श्री दयानन्द जी ने अपनी उपदेश वाणी से श्री गङ्गाराम को उपकृत किया। जितेन्द्रिय बने रहने के नियम उसे इस प्रकार बताए —"मनुष्य सदा एकान्त सेवी रहे, अनुचित देखना, सुनना, बोलना, सूंघना, छूना तथा नृत्यादि देखना न करे। स्त्रियों की ओर न देखे। आहार-विहार ठीक रक्खे। इससे वासना मन्द पड़ जाती है। उसकी तृप्ति से वह अग्नि में घृत डालने के समान बढ़ती ही है, न्यून नहीं होती। विषय-चिन्तन न कर रात-दिन 'ओ३म्' जप करता रहे। नींद आने पर दो घण्टा प्रगाढ निद्रा लेकर उठ बैठे और फिर उसी प्रकार जप-परायण हो जावे।

हरद्वार में पाखण्ड खण्डनी पताका

भगवान् दयानन्द ने देखा कि भारतवर्ष की इस मानव जाति में संन्यासि-वर्ग शिखामणि माना जाता है। उसका ब्राह्मणों तथा दूसरे संघटनों पर प्रबल प्रभुत्व है। यह एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा राजाधिराजों से लेकर सामान्य जन सरोवर में स्वराज्य और सौराज्य के कमल खिलाये जा सकते हैं। बारह वर्षीय कुम्भ के मेले पर जो कि संव्वत् १९२४ की कुम्भ संक्रान्ति पर हो रहा है, भारत के कोने-कोने से लाखों मनुष्य, राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, धार्मिक गृहस्थ, सन्त महात्मा, दशनामी, अनामी मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर पधारेंगे। सबसे पूर्व साधुओं को ही उनके गुण-दोष दर्शाकर अपना अनुयायी बनाऊंगा। पश्चात् मेला यात्रियों को तथ्य पथ का अनुगामी कर उन पर वैदिक धर्म की मुद्रा अङ्कित करूंगा। यदि इस अवसर पर सन्तों, पण्डितों और सभ्य जातियों ने अपनी मूल भ्रान्तियों का परिष्कार कर लिया, तो मेरे जैसे इस देश में सहस्रों ऐसे मानव हो जायेंगे, जो देशानुरागी बन वेदानुकूल अपना जीवन ढाल यहां से समस्त पाखण्ड जाल को उखाड़ फैंकेंगे। तब जन-जन में स्वदेशाभिमान, जातीय गौरव और आर्यत्व का उद्रेक हिलोरे ले उठेगा। इतना हो जाने पर संवत् १९१४ (सन् १८५७) के समान बृटिश शासक पुनः उत्पन्नक्रान्ति का शमन न कर सकेंगे। उस अवस्था में अंग्रेजों के समक्ष भारत को छोड़ जाने से अतिरिक्त और विकल्प क्या रहेगा। इतिहास यह सूचित कर रहा है कि जब तक देश वैदिकसरणी पर आरूढ़ था, तब तक वह चक्रवर्ति-राज्य का सुख देखता रहा; अतः आमूल परिवर्तन करके ही इस अपने रत्न भारत को पुनः वह ही पद दिलाना पड़ेगा।

ऐसा निर्धारण कर वेदमयी वाणी मुखरित कर देने के लिए श्री स्वामी दयानन्द जी फाल्गुन सुदी सप्तमी संव्वत् १९२३ को एक मास पूर्व ही हरद्वार पहुंच गए। वहां भीमगौडे से ऊपर सप्त स्रोत पर एक घास फूंस का कुटीर बनाया और तब उसकी शिखा पर एक ध्वज वस्त्र लहरा उठा। जिस पर लिखा था—"पाखण्ड खण्डनी पताका"।

इस दृश्य को देखकर अनेक मानव सन्देह दोला में विलोडित हो उठे। बहुत-से सन्तों और मण्डलेश्वरों के हृदय में नाना प्रश्न चक्र काटने लगे। "प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा" के पाश में फंसे मण्डलेश्वर दयानन्द की झोंपड़ी पर स्वयं तो न आए; पर अन्यों को भेजकर उनका आशय जानते रहे। कुछ एक पढ़े लिखे व्यक्ति दयानन्द की दिग्विजयिनी कुटी पर आकर शास्त्र चर्चा में प्रवृत्त अवश्य हुए; परन्तु श्री महाराज के हितकारी किन्तु तीक्ष्ण आघात उनके साम्प्रदायिक अवैदिक सिद्धान्तों को खण्ड-खण्ड कर देते थे। जब काशी के विख्यात श्री विशुद्धानन्द जी वर्णव्यवस्था पर कुछ कहने उनके समीप हुए, तो वेद प्रतिष्ठित यतिराज ने उन्हें सर्वथा अविचक्षण बना दिया और ऋषियों के नाम से रचाए अगणित ग्रन्थों को प्रमाण कोटी से बाहर फैंक डाला। मेले में भागवत-खण्डन की पुस्तिकाएँ भी बंटवा दीं जिस से मेले में दयानन्द ही दयानन्द गूँज उठा। अनेक सद्गृहस्थों ने अपनी कण्ठियां वहीं तोड़कर फैंक दीं। इस प्रकार एक ओर श्री दयानन्द सरस्वती की 'पाखण्डखण्डनी वैजयन्ती' विजय पा रही थी; दूसरे ओर बहुत-से साधुवों, मण्डलेश्वरों और ब्राह्मणों ने अपना प्रभाव क्षीण होते देख 'दयानन्द नास्तिक है' के समाघोष लगा दिए। मेला क्षेत्र में सर्वत्र पण्डित दयानन्द जी की ही विविध चर्चाएं थीं। विरोध प्रबल था; फिर भी नरमातङ्ग दयानन्द एकाकी ही सबसे टक्कर ले रहे थे। इतने प्रचुर प्रयत्न करने पर भी जब उन्होंने साधुवों और ब्राह्मणों को स्वार्थिता, दीनता, हीनता और रूढिवाद के सङ्कीर्ण जाल में जकड़े देखा, तो उनका मानस पटल प्रगाढावसाद से भर उठा। स्वराज्य प्राप्ति के लिए बौद्धिक क्रान्ति की विशाल आशाएं निराशा में समा गयीं। तब उन्हें जान पड़ा कि इस श्मशान भूमि में मृत सञ्जीवनी से प्राणप्रतिष्ठा की चेष्टा करना सर्वथा वृथा है। योग-समाधि का आनन्द छोड़कर अमूल्य जीवन को इसमें उलझाना अशान्ति को खुला निमन्त्रण है।

इस निर्विण्ण विचारधारा के बहते हुए सहसा दूसरे ही क्षण उनके अन्तःकरण के एक कोण से ज्योतिष्किरण फूट पड़ा—"हो! नहीं, नहीं, यह तो मेरा अभी तक भारतवासियों के मौढ्य रोग का त्रैवार्षिक निदान समाप्त हुआ है। इससे प्रतीत

हुआ कि भारत के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सर्वविध संन्यासी सभी धर्माडम्बर से आक्रान्त हैं। कटु तथ्य औषध पिलाने से इन्हें कष्ट होता है, पर इनकी आकुलता कों देखकर यदि उपचार न किया गया; तो ये अन्त तक दुःख भोगेंगे।"

"संन्यासी सबका गुरु है, पहिले उसे ही आदर्श स्थापित करना चाहिये। संन्यास का अर्थ है—"सर्वस्व त्याग"। सब कुछ छोड़ने में ही सफलता निहित है।" इस विचार मन्थन में विरक्त दयानन्द ने अपनी सर्व सामग्री का वितरण कर दिया केवल कौपीन पहन ली और मौन धारण कर सोचने लगे—"

"अपनी मूढ़ता के कारण ये लोग चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-करते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबो मारेगा। उसी दुष्ट गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, दुर्योधन नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। क्या विना देश देशान्तर, द्वीप द्वीपान्तर में राज्य तथा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश में ही स्वदेशी व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार तथा राज्य कर तो विना दुःख और दारिद्रय के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।"

पुनः कार्य-क्षेत्र में

इस प्रकार चिन्तामग्न और मौन साधना में कुछ दिन व्यतीत हो गये, तो उनकी कुटिया पर आकर एक व्यक्ति ने यह वाक्य उच्चारण किया—"निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्" इस वेदनिन्दक वाक्य को सुन, दयानन्द जगाए गए सिंह के समान मौनभङ्ग करके भागवत के खण्डन में पुनः प्रवृत्त होगए।

पांच छह दिन के लिये हृषिकेश गये, पुनः हरद्वार ही लौट आये। वहां से गङ्गा के तट पर विचरते हुये कनखल, लण्ढोरा पहुँचे। तीन दिवस से निराहार थे, तब एक कृषक से तीन बैंगन मांग कर अपनी जाठरी ज्वाला शांत की। वहां से शुक्रताल होकर मीरांपुर आये। एक पण्डित से दो दिन तक ग्रन्थ वार्ता करते रहे। पश्चात् महमूदपुर, परीक्षितगढ़ होकर गढ़मुक्तेश्वर पहुंचे। वहां भी तीन दिन की बुभुक्षा मांझी की आधी रोटी से मिटाई। अनेक दिनों तक वहीं गङ्गा की रेती पर पड़े रहे। फिर कर्णवास आये। दो विद्यार्थी उनके देह सौष्ठव को देख उनकी ओर आकृष्ट हुये। महाराज ने उनसे भागवत कौमुदी छुड़वाकर अष्टाध्यायी

मनुस्मृति पढ़ने की प्रेरणा की। इन दिनों कमण्डलु तक भी वे न रखते थे। कौपीन भी एक था। स्नानान्त में सुखाकर उसे ही धारण कर लेते थे। वहां से फर्रुखाबाद पहुंचकर फिर उलटे अनूपशहर आए। तब वे कुछ रुग्ण थे। बांसों की टाल वाले गौरीशङ्कर कायस्थ ने समुचित उपचार कर उन्हें रोग-मुक्त किया। अनूपशहर में तीन चार दिन साधु-समागम हुआ। एक दक्षिणी सन्त ने कुछ शङ्काओं का समाधान प्रभु दयानन्द से कराना चाहा, पर वह इतना गतबुद्धि था कि कुछ समझ ही न सका। यहां एक ब्राह्मण ने चिढ़कर महाराज को विष दे दिया। उन्होंने न्यौली क्रिया से उसी समय निकाल दिया। वहां का तहसीलदार सय्यद मुहम्मद यतिभूषण के गुणों से प्रभावित था। गुरु का विशेष प्रसाद प्राप्त करने के लिए वह अपराधी को बन्दी बनाकर श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। ऐसा किये जाने का कारण सुन, स्वामी जी अप्रसन्नमुद्रा में होकर बोले "मैं संसार को बन्ध कराने नहीं आया; अपितु उससे छुड़ाना चाहता हूं। यदि दुष्ट दुष्टता का परित्याग नहीं करते, तो शिष्ट शिष्टता का परिवर्जन कैसे करें?" क्षमावतार संन्यासी ने विषदायी उस ब्राह्मण को उसी समय मुक्त कर देने का आदेश दिया। वहां से महाराज नर्मदेश्वर आए, जहां उन्हें हृष्ट-पुष्ट एक नवलजङ्ग पहलवान मिला, जो अपनी ब्रह्मचारिणी बहिन के साथ वर्षा ऋतु की आतीर पूर गङ्गा को तैर कर पार किया करता था। उसकी बहिन इतनी दृढाङ्गा एवं बलवती थी कि वह तैरते समय एक हाथ में कृपाण भी रखती थी। नवलजङ्ग श्री यतिराज की परिचर्या सर्वात्मना भाव से करता था। जब एक दिन मद्य पीकर आए वामी गुण्डों ने यतिभूषण को घेर लिया, तो नवलजङ्ग उन पर श्येन पक्षी के समान झपट पड़ा और वे उसी समय सिर पर पैर रख कर भाग खड़े हुवे।

श्री दयानन्द जी ब्राह्मणों को सन्ध्या, गायत्री और अग्निहोत्र करने की प्रेरणा करते थे तथा उन्हें मथुरा जाकर ब्रह्मर्षि विरजानन्द जी से पढ़ लेने का उपदेश भी देते थे। इस पर्यटन समय में वे अयाचित भिक्षा ही लेते थे। रात्रि में किसी अन्य को अपने समीप नहीं रहने देते थे और अधिक समय योगसमाधि में ही बिताते थे।

एक दिन एक मनुष्य ने अपने पलायित युवक के विषय में पूछा, तो महाराज ने दिशा का संकेत करके बताया कि उधर खोज लो, मिल जायेगा। पुराण आदि को वे "गप्पाष्टकम् मनुष्याणां कोलाहलः' कहा करते थे।

चासी में एक नन्दराम नामक चक्राङ्कित ब्राह्मण था, उसकी धूर्तता सुन

कौपीनधारी दयानन्द जी उससे वाग्विलास करने पहुंचनेवाले ही थे कि दूसरों से वह उनकी अगाध पाण्डिती को जानकर चुपचाप गङ्गा पार खिसक गया।

आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी संवत् १९२४ को दयानन्द दिवाकर ने रामघाट के बनखण्डी महादेव को प्रभासित किया।

रेवाड़ी निवासी महाशय हरसहाय जी अपने पितामह के साथ रामघाट के वनखण्डेश्वर मन्दिर में स्वामी जी के दर्शनार्थ पहुंचे। उस समय वे कौपीन लगाये उपदेश कर रहे थे। उच्च विशाल वक्षस्स्थल के नीचे लगा उनका पेट पीठ से सटा प्रतीत होता था। उनकी भव्य आकृति को देख किसी का उनके सम्मुख होने का साहस नहीं होता था।[1]

वहां सेवा में उपस्थित पं० टीकाराम से परिव्राजक श्री स्वामी जी ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

"ब्राह्मण हूं भगवन् !"

"क्या कुछ पढ़ा है ?"

"गायत्री कण्ठस्थ है दयानिधे !"

"सुनाओ तो"

"गुरु जी ने वर्जित किया है" टीकाराम ने निवेदन किया।

"संन्यासी ब्राह्मणों का भी गुरु होता है।" महाराज का यह वाक्य सुनते ही उसने सुना दिया। उस के उच्चारण पर गुण प्रशंसक दयानन्द जी अतिमुदित हुये और उसे सन्ध्या आदि उत्तम कर्मों के लिये प्रोत्साहित करने लगे। वह स्वामी जी की अनवद्य विद्या से खिल उठा और उसने विष्णु सहस्रनाम; गङ्गालहरी आदि स्तोत्र पुस्तकों को गङ्गा की भेंट चढ़ा दिया। साथ में पत्थर के भगवान् ठाकुरों को भी सदा के लिये जलतलालीन कर डाला।

पं० टीकाराम स्वामी जी का इतना श्रद्धालु बना कि उसने अपने कर्णवासी गोपालसिंह आदि यजमानों का पौरोहित्य कर्म करना छोड़ दिया। इससे शिक्षा पाकर उन यजमानों ने भी स्वामी जी का बहुत आभार प्रकट किया। उन्हें अपने स्थान पर कर्णवास बुला लिया। स्वामी जी ने उन्हें यज्ञोपवीत से हीन देखकर कहा—"पण्डित पुरोहितों का भ्रष्टाचार तो देखो, अपने यजमानों के दाढ़ी मूंछ निकल आने पर भी ये उन्हें ब्रह्मसूत्र नहीं देते।"

---

[1] १८ अगस्त १९३६ में गुरुकुल झज्जर के आचार्य श्री भगवानदेव जी ऋषि दयानन्द की घटनाएं खोजने रेवाड़ी गये थे, तब महाशय हरसहाय जी ने वनखण्डेश्वर मन्दिर की यह घटना उन्हें सुनाई।

स्थित–प्रज्ञ श्री स्वामी जी कर्णवास में एक सघन छायावान् वृक्ष के नीचे अपना आसन लगाए हुए थे। मूर्तिपूजा-खण्डन और उपदेश करते; जब महाराज को तीन मास बीत गये, तो पं० भगवान्दास आदि को प्रतिमा-विरोध असह्य हो उठा, पर कुछ कर न सके। आश्विन में लगने वाले मेले पर भी निष्परिधान विरक्त दयानन्द का प्रभाव तीर्थयात्रियों पर बहुत अच्छा पड़ा। मेला यात्रियों ने मूर्ति-पूजन का ऐसा विरोधी अब तक कोई साधु नहीं देखा था। पण्डित पुरोहितों की नितान्त निन्दा एव स्वामी जी की विस्तृत विश्रुति को देख कर कुछ महानुभावों ने अनूपशहर वासी पं० अम्बादत्त पर्वती से महाराज का शास्त्रार्थ कराया। आश्चर्य है कि धर्म-चर्चा प्रारम्भ होते ही वह तो हांपता हुआ जीवन-दीप बुझाने लगा। श्वास फूल गया। संस्कृत बोलने का उसे अभ्यास न था। श्री दयानन्द जी ने उसकी शोचनीय दशा देखकर कहा—"पता लग गया है अनूपशहर में पण्डितों का अभाव है। आप चुप हो जाइये।"

प्रतिष्ठित पण्डित अम्बादत्त के इस पराजय को देख कर ठाकुर महाशय श्री दयानन्द जी के वैदिक धर्म स्रोत से पौराणिक मल अपसारण करने लगे।

पश्चात् स्वामी जी चासी पहुंचे। वहां वे एक दण्डपेल पहलवान् के श्रद्धा केन्द्र बने। उसने स्वामी जी के बल की परीक्षा करने के लिये उनके पैर दबाने आरम्भ किये। श्वास रोक अपनी सम्पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करके भी वह उनके तन की थाह न ले सका। अन्त में पसीना-पसीना हो, थक कर बैठ गया।

आचार्य दयानन्द में निष्ठावान् पं० गङ्गादत्त जी तीन वर्णों को यज्ञोपवीत देते जा रहे थे। एक दिन महाराज ने उनसे कहा—"जो पुरुष दुष्टकर्म में प्रवृत्त है; उसका साथ-साथ उतारते भी चलो।"

छत्रसिंह नामक एक जाट नवीनवेदान्त पर तत्त्वदर्शी श्री दयानन्द से चर्चा करने आगे बढ़ा। महाराज से निरुत्तर हो जाने पर भी जब वह जगत् को मिथ्या ही कहता रहा; तब उन्होंने उसके कपोलों पर एक चपत लगा दिया। रोषावेश में वह बोला "आपने यह ठीक नहीं किया।" स्वामी जी ने कहा—"संसार तो मिथ्या है और ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है नहीं; तब बताओ—किसने किसको मारा ? इतना सुनना था कि जाट महाशय सब सट्टी-पट्टी भूल गया और वह थोथी वेदान्त वादिता से उसी समय बाहर निकल आया।

मार्गशीर्ष के दिन थे। परम सहिष्णु श्री दयानन्द रामघाट के गङ्गा तट पर रहने लगे। १० बजे से सूर्यास्त तक वे पद्मासन बद्ध, गति-हीन, मौन बने ही स्थान पर निर्वस्त्र बैठे रहते थे। उनके ब्राह्म तेजस् के कारण क्षेमकरण नामक एक ब्रह्मचारी उनकी ओर आकृष्ट हुआ। वह घोर प्रतिमा पूजक था। उसकी मूर्तियों में १९ सहस्रवान्य (किलोग्राम) भार था। उस समय वहां कृष्णानन्द जी हिन्दू धर्म के रक्षक थे। शास्त्र-समर में वे जब श्री दयानन्द जी से पराजित हो गए, तो क्षेमकरण ने सब प्रतिमाएं गङ्गा में विसर्जित कर दीं और स्वयं साधु बन गया। उसकी देखा देखी पं० बालमुकन्द प्रभृति प्रमुख व्यक्तियों ने भी बनावटी देवों का बोझ सिर से उतार दिया और वे सब अपने हृदय मन्दिर में विराजमान सर्वव्यापक भगवान् की ही अर्चना करने लगे।

पश्चात् बेलौन में आसन जमाकर यतिकुलमणि ने पचासों मनुष्यों को पण्डित इन्द्रमणि जी द्वारा गायत्री मन्त्र सिखवाया। उसका एक सहस्रवार जप करने को भी कहा। पूछने पर यह भी बताया कि राम और कृष्ण प्रतापी राजा थे। कृष्ण के साथ गोपियों की लीलाएं संयुक्त करना उन्हें साधारणजन से भी नीचे गिराना है। अवतार तो ईश्वर का होता ही नहीं।

बेलौन से दयानन्द सरस्वती कर्णवास पधारे। यहां पहले वार शास्त्रार्थ में पण्डित अम्बादत्त मुंह की खा चुका था, उस का कालिमा धोने के लिये पूजारियों ने महाराज से हीरावल्लभ को भिड़ा दिया। उसकी धारणा थी कि मैं दयानन्द से मूर्तियों को भोग लगवाकर ही उठूंगा। इस हठ में ६ दिन तक धर्मप्रसंग चलता रहा। जब वह नियम बद्ध उस वाग्युद्ध में न ठहर पाया तो चिररक्षित अपनी सकल प्रतिमाएं गंगा के अर्पण करदीं। श्री दयानन्द जी उसकी इस सत्यनिष्ठा पर प्रतिमुग्ध हु ये। वहां का जन समुदाय भी स्वामी जी में विश्वासी हो गया।

एक दिन की घटना है—ठाकुर जी को भोग लगाकर एक ब्राह्मण ने महाराज को भोजन परोसा तो वे यह कहकर वहां से चले आए कि हम किसी का उच्छिष्ट नहीं खाते। सूर्य-चन्द्रग्रहण के समय भी वे खान-पान वर्जित नहीं मानते थे।

बुलन्दशहर मण्डल के समाहर्त्ता (क्लैक्टर) प्रति-दिन चार घण्टे कार्य से रहित रहा करते थे। एक दिवस वे महाराज के आवास पर दर्शन करने आये। पारस्परिक वार्ता में कर्मठ दयानन्द जी ने उनसे कहा—"एक पारिवारिक मनुष्य को सिर

खुजलाने का भी अवकाश नहीं मिलता और आपको, जिन पर सहस्रों मनुष्यों को सुख पहुँचाने का भार है, चार-चार घण्टे का समय कैसे मिल जाता है।" मर्मस्पर्शी कथन में समाहर्ता महोदय अपने कर्त्तव्योल्लङ्घन पर लज्जित हो गए।

एक दिन कमलनयन सदृश पच्चीस अहङ्कारी विद्वान् कठिन-कठिन प्रश्नों को सङ्कलित करके श्री दयानन्द जी के निकट आए। पर आश्चर्य है कि उन के सम्मुख आते ही कोई भी अपने विचार व्यक्त न कर सका। मार्ग में लौटते समय परस्पर वे बोले—"दयानन्द का कुछ अद्भुत ही प्रभाव है, जिस से सब कुछ लुप्त हो जाता है।

एक दिवस पं० नन्दकिशोर अध्यापक क्षेत्रस्वामी के आदेश विना फलियां तोड़ लाया और उन्हें महाराज को भेंट करने लगा, तब वे बोले—"ये हम कैसे स्वीकार करें, ये तो सब चोरी की हैं।" यह सुनते ही वह अपने कुकर्म पर सटपटाने लगा।

दन्त कट-कट के कड़ाके की ठण्ड में एक-दिन संगार्थियों ने प्रभु दयानन्द से पूछा—"करुणानिधान ! यह तो बताइये—इतने वस्त्रावृत होने पर भी हमारी बत्तीसी बज रही है और एक आप हैं, जिन पर वस्त्र के विना भी शीतातिशय की कोई क्रिया नहीं है ? महाराज ने गम्भीरता में कहा—"ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इस में विशेष कारण है।"

आठ गप्प

कर्णवास में उन दिनों स्वामी जी निम्न आठ गप्पों का खण्डन करते थे—

(१) अठारह पुराण व्यास-कृत हैं (२) मूर्तिपूजा (३) शैव शाक्त और रामानुजादि वैष्णव सम्प्रदाय (४) तन्त्र ग्रन्थों में वाममार्ग आदि (५) मदिरा इत्यादि मादक पदार्थ सेवन (६) व्यभिचार (७) चोरी करना (८) छल, कपट अभिमान और झूठ आदि। तथा इन आठ मन्तव्यों का मण्डन करते थे।

अष्ट कर्त्तव्य

१- ईश्वरकृत ऋग्वेदादि चार वेद और ऋषिकृत ग्रन्थ।
२- प्रथम वय: में ब्रह्मचर्यपूर्वक सांगोपांग वेदों का अध्ययन तथा गुरु-परिचर्या।
३- वेद में प्रतिपादित वर्णं और आश्रमों के अनुकूल सन्ध्योपासनादि, अग्निहोत्रादि करना।

४- पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल के उत्तर अपनी पत्नी से समागम। श्रुति, स्मृति, सदाचार के अनुकूल आचरण।

५- शम. दम, तपश्चरण, यमादि से लेकर समाधि पर्यन्त उपासना, सत्सङ्ग पूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान।

६- विचार, विवेक, वैराग्य तथा पराविद्या का अभ्यास और संन्यास ग्रहण करके सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग।

७- ज्ञान और विज्ञान से सब प्रकार के अनर्थ, मरण, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, सङ्गदोष के परिवर्जन का अनुष्ठान।

८- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, तमस्, रजस्, सत्त्व सब क्लेशों की निवृत्ति, पञ्चमहाभूतों से अतीत होकर मोक्ष के स्वरूप और स्वराज्य को प्राप्ति।

स्वराज्य प्राप्ति

लाला इन्द्रमणि ने निवेदन किया—"प्रभो! इस आख्यान-प्रत्याख्यान के चक्र में वीतराग होकर आप क्यों फंस गए?" हितैषी दयानन्द जी ने उसे समझाया "भद्र! यह चक्र नहीं है। ऋषि-ऋण का उतारना है। स्वार्थियों ने अखिल विश्व को वैदिक-पथ से बहुत दूर पहुँचा दिया है। जब तक इस देश में आर्ष-प्रणाली प्रचलित थी। भारतवासियों का सृष्टि के आरम्भ से महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती अखण्ड राज्य चलता रहा। ऋषियों द्वारा प्रचालित संस्कृति को विस्मरण करके देशवासी गौरव-हीन बने, आज विदेशी राज्य में दुःख भोग रहे हैं। विदेशियों का आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मत-भेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, संस्कृत विद्या का न पढ़ना पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। मैं एक-एक को भारतवासियों से निकाल देना चाहता हूं। वृटिश शासकों से मिलने पर उन्हें भी प्रजा में से ये दोष निकाल देने की प्रेरणा करता हूं। इन दुष्कृत्यों से पृथक् रहनेवाले महामानव ही स्वराज्य की स्थापना के कर्णधार होंगे। जब तक वे अपने भीतर ये गुण स्थिर रक्खेंगे, अपने देश पर शासन करते रहेंगे; अन्यथा प्राप्त किया गया राज्य भी शनैः-शनैः हाथों से निकल कर, जिसका उन्हें भान भी न होगा, दूसरों की अधीनता में चला जायेगा। इन कुटेवों से रहित मानव सदा पुरुषार्थी होते हैं। शासनारूढ होकर प्रजा में पुत्रवद् वर्तते हैं और

प्रजा उन्हें चाहती है। उनका राज्य अडिग रहता है। इन सब कारणों से श्री
वैदिकधर्म के प्रचार को मुख्य समझा है।"

कर्णवास से चलकर श्री दयानन्द सरस्वती ने चैत्र संव्वत् १९२५ में सोरों
के गढिया घाट पर अपना आसन किया। इस प्रसिद्ध तीर्थ पर सहस्रों नर
नारियों का शुभगमन और दुर्गमन होता है। वहां के लब्धप्रतिष्ठ बलदेवगिरि
गोसाईं श्री चरणों मे कुछ चक्राङ्कितों को लेकर उपस्थित हुए। जब धर्म चर्चा में
दयानन्द वाग्मी का चक्राङ्कितों पर प्रबल आधिपत्य हो उठा, तो गोसाईं जी
दयानन्द जी में औत्सुक्य दर्शाने लगे। वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट थे, प्रतिदिवस श्री
सेवा में आकर अत्यन्त सौहार्द्य से उनके सरक्षरण करने में सावधान होगए।

एक निशीथ वेला में अकस्मात् ही श्री दयानन्द जी के पुरातन परिचित श्री
कैलास पर्वत जी उधर आ निकले। वे अच्छे विद्वान् थे। श्री दयानन्द जी ने
उनसे कहा—"आप मुझे सहयोग दीजिए। रामानुज आदि सम्प्रदायों का खण्डन
कीजिए। इन मतों ने प्राचीन धर्म-नीति-रीति को सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया
है।" इस पारस्परिक विचार में दोनों उच्च महात्माओं की सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी,
किन्तु सत्यता स्वीकारते हुए भी कैलास पर्वत जी स्वयं को इस कार्य के लिए
प्रस्तुत न कर सके। कैलास पर्वत जी कहा करते थे—"दयानन्द जैसा धैर्यधुरीण
स्थिर विचारवान् महात्मा न कभी देखा है, न ही सुना है।"

युगलकिशोर श्री दयानन्द जी के महाध्यायी थे। श्री दयानन्द जी ने
उनकी पौराणिकता की मान्यता पर परिहास किया। इससे वे रुष्ट हो गए। उन्होंने
गुरु विरजानन्द जी के चरणों में पहुँच निवेदन किया—"गुरुदेव! श्री स्वामी
दयानन्द जी भागवत और शालीग्राम को नहीं मानते।" गुरुराज ने कहा—"युगल
किशोर! दयानन्द सरस्वती पूर्णात्मना ऋषि शैली के अनुसर्ता हैं। तुम ही बताओ,
'शालीनां यो ग्रामः स शालीग्रामः' शालियों का ग्राम, जिसका अर्थ ही ऐसा अशुद्ध
है, उसकी पूजा सार्थक कैसे हो सकती है?" इतना सुनते ही युगलकिशोर ने
अपनी कण्ठी तोड़ कर वहीं फैंक दी।

हरगोविन्द पराभूत

दुर्भावना शल्य के चिकित्सक श्री दयानन्द जी चक्राङ्कित मत का निकन्दन
करने के निमित्त बलदेव गिरि गोसाईं के साथ सोरों पधारे। वहां से दूसरे दिन
अम्बागढ़ गए। वहां जब चक्राङ्कितों के उत्पात-प्रस्फोट का अपने तर्क साधित्र से
प्रशमन किया, तो गोसाईं जी हर्ष प्रेरक में बार-बार श्री दयानन्द का जय-जयकारे

कार कर उठे। इस शास्त्र समराङ्गण में वैष्णव जन अपने मुखिया हरगोविन्द को हो हल्ले के साथ दयानन्द चट्टान से टक्कर कराते थे और हरगोविन्द टकराकर चूर चूर हो जाता था। वार-वार ऐसा करने पर जब वे हरगोविन्द को न बचा सके, तो उन्होंने भगवान् दयानन्द को विष देकर अथवा जल मग्न करके उनके प्राण हरण का षड्यन्त्र रचा। भ्रम से एक दूसरे साधु को वे दयानन्द समझ बैठे और उसे खटिया सहित उठाकर भागीरथी में फेंक दिया। उसके चिल्लाने से जब दयानन्द के अभाव का बोध हुआ तो उसे निकाला और अपनी असफलता पर बहुत ही लज्जित हुए।

एक ही क्या अनेक प्रकार की सङ्कट वृष्टि श्री दयानन्द जी पर हो रही थी और वे प्रतिवार उस में से अक्लिन्न निकल आते थे। एक दिन धैर्य धनी स्वामी जी उपदेश कर रहे थे कि एक हृष्ट-पुष्ट, मल्ल जट्ट; कन्धे पर मोटा लट्ठ लिए उपदेश श्रोताओं के जमघट को चीरता हुआ सीधा स्वामी जी के समीप पहुँच कर बोला—"ओ बाबा, तू मूर्ति पूजा का खण्डन करता है और गङ्गा मैया की निन्दा करता है। बोल तेरे किस अङ्ग पर यह लट्ठ मारूं ?"

स्वामी जी ने अपना शिर आगे करते हुए कहा—"वत्स! मेरा शिर ही इन बातों की प्रेरणा करता है। इसी पर अपना दण्ड चलाओ।"

यह कह कर ज्यों ही निर्भीक दयानन्द ने अपने ब्राह्म वर्चस् की दिव्य प्रभा से उसकी आंखों में देखा, वह घायल की भांति धड़ाम से श्रीचरणों में गिर पड़ा और किए गए अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा। वहां उपस्थित जनों ने इस दृश्य के परिणाम को विस्फारित नेत्रों से देखा कि उसकी उत्तेजना और उष्ण शोणिता क्षरण भर में शान्त हो गयी।

एक दिन की बात है—मूर्ति पूजा के समर्थक एक चिद्घनानन्द नग्न साधु को श्री दयानन्द जी ने शास्त्र-प्रर्वतन के लिए निमन्त्रित किया। संस्कृत का विद्वान् होते हुए भी जब वह कतराकर दूर भाग गया, तो दयानन्द जी ने उसे वहीं जा पकड़ा और कहा—"तुम प्रतिमापूजन की बहुत डींग मारते हो, वेदों मे से उसका एक मन्त्र निकाल कर तो दिखाओ।" उससे वार-वार पूछा; पर वह मौनावलम्बी बन गहनावसाद में पृथिवी तल को ही देखता रहा। बहुत समय बीतने पर जब उसका मुख उठा ही नहीं, तो महाराज लौट आए।

कर्णसिंह की उद्दण्डता

ज्येष्ठ शुक्ला दशमी संवत् १९२५ के मेले पर दयानन्द यति पुनः कर्णवास पधारे। बरौली ग्रामवासी राव कर्णसिंह नामक, एक बड़गूजर क्षत्रिय, चक्राङ्कित

सम्प्रदाय में दीक्षित था। महाराज जिस समय श्रोतृवर्ग को उपदेश करने में प्रवृ
थे, तो वह कतिपय शस्त्रधारी सहचरों के साथ आकर बोला—"हम कहां बैठें

"जहां आपकी इच्छा" महाराज ने कहा।

"हम तो आपके स्थान पर बैठेंगे।" कर्णसिंह आंखें गड़ाते हुए बोला।

"बैठिए" महाराज ने सीतल पाटी के एक किनारे पर सरकते हुए कहा।

"हमने सुना है कि आप गङ्गा स्नान से पाप-क्षालन नहीं मानते।"

"जी हां, पाप-निवृत्ति कभी गङ्गा स्नान आदि से नहीं होती और पुण्या
वैदिक आचार से होता है।" स्वामी जी ने तपाक से कहा।

"गङ्गा माहात्म्य तो शास्त्र-सम्मत है" राव कर्णसिंह बोला।

"ये सब स्वार्थी पेट्ट पण्डितों के गपोड़े हैं।" महाराज कह उठे।

"तो गङ्गा को आप क्या मानते हैं ?" कर्णसिंह ने पूछा।

"इससे जो उपकार होता है, उसे स्वीकार करता हूं। इस समय मेरे कम
में जो जल है मेरे लिए वही गङ्गा है।" उत्तर में सत्यवादी बोले।

"अच्छा हमारे यहां रामलीला में चलिए।" निमन्त्रित करते हुए कर्ण
ने कहा।

"राम की वास्तविक लीला तो रामायण में है" कहते हुए महाराज
बोले, "आप लोग जो रामलीला के नाम से करते हैं वा देखते हैं, वह तो
क्षत्रियों पर कलङ्क का टीका है। अपने मान्य पुरुषों के ऐसे रूप बनाकर बा
बालिकाओं को नचाना कितना घृणित कार्य है ! यदि आप राम के समय
प्रदर्शन करते, तो क्या वे करने देते ? यदि आप का कोई स्वाङ्ग भर करे
तो क्या आप सहन करेंगे ?"

इतना सुनना था कि वह आग बबूला हो उठा।

महाराज ने उससे झट पूछा—"राव साहब यह आपके भाल पर कैसी रेखा

"यह श्री है, इसे न लगाने वाला चाण्डाल होता है !" नीचा दिखाने
भाव दर्शाये।

"कितने वर्षों से आप यह रेखा खीचने लगे हैं ?"

"कुछ ही वर्षों से" उसने साभिमान उत्तर दिया।

"क्या आपके पिता जी चक्राङ्कित थे ?"

"नहीं" घूर कर कर्णसिंह बोला।

"तब आप स्वयं समझ लीजिए कि आप के पिता और पहले आप क्या

यह सुनते ही राव साहब की आँखें क्रोधानल से शोणित हुई स्
फंकने लगीं। गाली प्रदान कर चकचकाते हुए उसने घात के लिए ज्यों ही

निकाला ; ठाकुर किशनसिंह आदि भक्तों ने तुरन्त खड़े हो, इस अप्रिय घटना को बढने न दिया। उपस्थित पचासों मनुष्य कर्णसिंह को इस दुष्कर्म पर धिक्कारने लगे।

"थाने में इस दुर्वर्तन का परिवाद कर देते हैं।" सभासद् चिल्लाए।

महाराज ने एक हुंकार में कहा --"जब यह अपने क्षत्रियत्व को नहीं निभा सका, तो हम अपने ब्राह्मण के कर्तव्य से कैसे हीन हों ? प्राणिमात्र को न सताना ही संन्यासी का उच्च आदर्श है। ऐसे अवसरों पर धर्म ही चेतनवत् कार्य करता है। देखो मनुस्मृति—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः,
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।"

कर्णसिंह के अपने घर पहुंचते ही उसका प्रिय अश्व रोगी होकर चल बसा। वृष्टि होने लगने से चालू रामलीला निलम्बित करनी पड़ी तथा स्वयं उसके पेट में पीडा के आवर्त उठने लगे।

दो मास पश्चात् भी जब राव कर्णसिंह ने स्वामी जी को उसी खण्डन-मण्डन में संलग्न पाया, तो वह अपनी पिछली कसक निकालने के लिये पुनः कटिबद्ध हो गया। इस बार उसने रात्रि के समय कुछ घातक दैत्य भेजे और प्राण-हरण की चेष्टा की। इसमें वह कृतकारी तो हुआ ही नहीं, रोगी होकर विक्षिप्त-सा और रहने लगा। दुष्क्रिय बन मांस और सुरापाण में प्रवृत्त हो चला। पचास सहस्र का एक अभियोग भी हार बैठा। [1]

इस सब लीला के अनन्तर श्री दयानन्द जी अम्बागढ़, सरावल (सरदोल) के नागरिकों को उपकृत करते हुये शाहबाजपुर पधारे। ऐसा प्रतीत होता है— लोकहितेच्छु श्री दयानन्द जी के वध की कोई कूटनीतिक योजना थी। इसकी उद्भवभित्ति कहां है, इसकी छाया सम्भवतः अन्त तक मिल सके।

दो गङ्गापुत्र (चक्राङ्कित) गङ्गापार करके आये। उन्होंने स्वामी जी का शिरश्छेद करने के लिये एक ठाकुर से कृपाण याचना की। संयोगवश ठाकुर महाशय महाराज के श्रद्धाभाजन थे, इस कारण उन्हें निराश लौट जाना पड़ा।

---

[1] इतना ही नहीं, इस से भी अधिक ब्रह्महत्या का जो फल होता है, वह भी सुनने को मिला—वह था, सर्वथा कुल का नष्ट हो जाना। जब उसके ग्राम वासियों को उसके कुल में वंशोच्छेद हो जाने से एक मानव भी न दीख पड़ा, तो यह बात विस्तार पाती चली गई कि वह अपने दुष्कर्म से स्वयं तो डूबा ही। साथ में अन्यों को भी ले डूबा। इसकी कन्या के भी कोई सन्तान न हुआ। उसने दत्तक पुत्र लिया, तो वह भी चल बसा।

गुरु निर्वाण

संव्वत् १९२५ आश्विन कृष्णा १३ सोमवार के दिन गुरुदेव श्री विरजानन्द जी का शरीर छूट गया। यह हृदय द्रावक समाचार जब श्री दयानन्द जी को मिला, तो उनके मुख से अवसाद भरा वाक्य निकला—"विश्व से आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया है।"

गुरु-वियोग में शिष्य ने उस दिन जल तक भी ग्रहण नहीं किया।

शाहबाजपुर से श्री दयानन्द परिव्राजक कादिरगञ्ज, नरदौली के विपथ पन्थी जनों को परास्त करते हुये कार्तिक शुक्ला १३ को ककोड़े के मेले में विराजमान हुए।

उन दिनों वे भोजन में अजगरवृत्ति अपनाए हुये थे। अनेक वार मर्मन्तुद क्षुधोत्पीडन में भी उनका वार्तालाप प्रसन्नमुद्रा में ही होता रहता था। यहां एक अंग्रेज पादरी ने दुभाषिए के द्वारा संलाप किया—

"नंगे रहने से आपका क्या प्रयोजन है?"

"इससे मैं सुखी हूं" महाराज ने आगे कहा—"मेरे मट्टी मले शरीर पर यदि और मट्टी गिर जाये, तो कोई हानि नहीं, परन्तु ऐसा आप के लिये कठिन है।"

"आप इतने हृष्ट-पुष्ट, मोटे एवं स्वस्थ कैसे हैं?"

"इस में विशेष कारण संतोष है।"

"आप माल खाते हैं।" पादरी ने व्यङ्ग कसा।

"दिन-रात मेरे साथ रहकर देख लीजिये।" महाराज होठों में हंसकर बोले। इसके आगे अपने में बल न देख, वह खिसया कर चलता बना।

इस मेले में भी अनेक मतावलम्बी हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों से धर्म चर्चा हुई।

मेले की निवृत्ति पर श्री दयानन्द पर्यटक नरदौली में अपनी विचार परम्परा स्थिर करके कायमगञ्ज में आसीन हुये। वहां कान्यकुब्ज ब्राह्मणों ने निवेदन किया—

'भगवन्! भोजन का समय हो गया है, स्नान आदि से निवृत्त हो जाइये।'

"यहां माइयों का आना-जाना बहुत है। स्नान करके कौपीन सूखने तक हम यहां सर्वथा दिगम्बर नहीं रह सकते।" महाराज ने यह बात संस्कृत में कही (वे संस्कृत में ही बोलते थे)।

तब वे महाराज को एकान्त स्थान में ले गए।

तदनन्तर शमसाबाद होकर श्री दयानन्द यति पौष के आरम्भ में फर्रुखाबाद पधारे। उनके धवल यशस् से आकृष्ट हुये अनेक संशयालु अपने संशय मिटाने लगे। गङ्गाराम जैसे पण्डितम्मन्य ने भी प्रदर्शन के अभिलाष में उनकी विद्या टोह लेने के लिये दो प्रशिक्षित युवक भेजे, जिन में एक उसी का पुत्र था। जिसने स्वामी जी से कहा—"अहङ्कारी चाण्डाल होता है।" महाराज ने उन्हें समझाया—"वत्स! अहङ्कार की परिभाषा अभी तुम्हारे बुद्धिगम्य नहीं है। सच्चा अभिमान महापुरुषों को भी अभीष्ट है। परन्तु वे उसका प्रकाश करते नहीं फिरते और उससे चुप-चाप सुधार का कार्य किया करते हैं। अच्छा, तुम यह तो बताओ; श्री राम और कृष्ण कौन थे?" यह सुनते ही वे अपना पराभव-सा अनुभव करके चलते बने, क्यों कि उन्हें कुछ वाक्य तोते की भांति रटा कर भेजा गया था। तब गंगाराम ने भी घर बैठे रहना ही उचित समझा।

वहां अनेक पण्डितों एवं वैश्यों ने महाराज के करकमलों से यज्ञोपवीत धारण किए।

वे बोले—'भगवन्! ब्राह्मण कहते हैं कि शुक्रास्त के समय जनेऊ लेना अनिष्ट सूचक है"

"हमारा शुक्र सदा उदीयमान रहता है।" गुरु दयानन्द ने स्वोपज्ञ शब्दों में कहा।

बलदेवप्रसाद ने पूछा—"यदि आपके मन मे सिंह आदि श्वापदों के वध में क्षत्रियों को पाप नहीं, तो पाप किसमें है?

स्वामी जी—"जिससे हानि हो वह पाप है।"

बलदेवप्रसाद—"तब तो निकम्मे पशु और वृद्ध पुरुष की हत्या में भी कोई दोष नहीं?"

स्वामी जी—"यहां कृतघ्नता रूप महापाप है। गाय आदि के पीडन में भी यही बात है।"

लाला जगन्नाथ—"मनुष्य का कर्तव्य कर्म क्या है?"

स्वामी जी—"मोक्ष रूप आदर्श प्राप्ति के लिये परमात्मा के गुण कर्म के अनुसार अपने में परिवर्तन लाके परमात्मा के समान अपना स्वभाव बना लेना ही मानव का परम कर्तव्य है।"

एक मुसलमान—"मुहम्मद कैसे थे?"

स्वामी जी—"आप लोगों ने उनके आश्रय से स्वयं को बहुत क्षति पहुंचाई है। भला तनिक सोचो तो सही, जब थोड़े बालों वाली चोटी कटवाली, तो इतनी लम्बी दाढ़ी रखने से क्या प्रयोजन था ?" यह सुनकर वह तो आगे एक शब्द भी न बोल सका।

प्रतिमा-पूजन के सम्बन्ध में फर्रुखाबाद के ब्राह्मणों का महाराज से घोर विरोध चल रहा था। उन्होंने मेरठ नगर से शास्त्र-विवाद के लिए हरिगोपाल शास्त्री को आमन्त्रित किया। श्री पीताम्बरदास शास्त्र-युद्ध के प्रतिभू निर्वाचित हुए। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्वामी जी के चार-पांच प्रश्नों में ही हरिगोपाल शास्त्री के पैर उखड़ गए। फिर नगरवासियों ने अपनी नाक कटती देख, मूर्ति-पूजा के औचित्य में काशी के विद्वानों के हस्ताक्षर सहित एक परिपत्र मंगाया और दूर-दूर रहकर वे नरपुङ्गव दयानन्द को शास्त्र चर्चा के लिए ललकारते रहे। हरिगोपाल भी उसी हो हल्ले में सम्मिलित था। इस उत्पात की सूचना पाकर थाने से मुख्यारक्षी श्री महाराज के डेरे पर आए। महाराज ने उनसे कहा, आप राजकर्मचारी हैं। इस गड़बड़ का कारण उनसे पूछिए और व्यवस्था कीजिए। हम तो अपने स्थान पर चुप-चाप बैठे हैं। किसी गाली प्रदान आदि का भी उत्तर नहीं देते। मुख्यारक्षी ने यथार्थता को समझ लिया और स्वामी जी की रक्षा हेतु दो आरक्षी नियुक्त कर दिए। इस व्यवस्था से हरिगोपाल तो इतना आतङ्कित हुआ कि वह नगर ही छोड़ भागा। उस दिन अनन्त चतुर्दशी का मेला भी था।

दो-तीन दिन पश्चात् फर्रुखाबाद का प्रेषपति (पोस्ट मास्टर) ज्वालाप्रसाद मदिरा में प्रमत्त हुआ महाराज के समक्ष कुरसी बिछाकर बैठ गया और मुख से अवाच्य वचन छोड़ता रहा। स्वामी जी वहां से उठकर दूसरे स्थान पर चले गए। घटना की प्रतीति होने पर भक्तों ने प्रेषपति को पर्याप्त पीटा और उसकी आसन्दी भी जला डाली। जब महाराज को पता चला, तो उन्होंने ऐसा किया जाना अनुचित ठहराया। नगर में अभियोग चलाने तक की जन श्रुतियां विस्तार पा रही थीं। महाराज ने सेवकों से कहा—"जैसी घटना है, हम तो यथार्थ ही कह देंगे, चाहे परिणाम कुछ भी हो। उसी समय २०, २५ लठैत सङ्गठित होकर महाराज के प्राण लेने आए; परन्तु वे कुछ कर न सके। इस विषम दृश्य को देखकर ला० जगन्नाथ ने स्वामी जी से सुरक्षित स्थान में चले जाने का निवेदन किया। तब महाराज ने गम्भीर भाव में कहा, "मेरा सर्वत्र परमात्मा रक्षक है। मैं यहां ही सुखी हूं।"

एक दिन बहुसंख्यकजनों की उपस्थिति में सत्प्रचारी दयानन्द जी का उपदेश हो रहा था। मदिरोन्मत्त काली के एक उपासक ने महाराज पर जूता फेंका। वह स्वामी जी तक न पहुँच सका। सत्यनामी साधु इस दुष्कृत्य पर उसे पीटने लगे, तब दयालु देव दयानन्द ने उसे छोड़ देने का आदेश दिया और कहा—"मदिरा के कारण इसकी यह चेष्टा थी, यदि जूता लग भी जाता, तो हमारा क्या बिगड़ जाता।"

फर्रुखाबाद में ही कतिपय सम्पत्तिमान् उपद्रवियों ने पुष्कल धन देकर एक उद्दण्ड गुण्डे को प्रभु दयानन्द पर चोट लगाने भेजा; किन्तु महाराज ने उसे ऐसी प्रभावशालिनी हृन्मोदिनी माधुरी भाषा में समझाया कि उसने अपना लठ वहीं फेंक दिया और उनके चरण पकड़ लिए। वह वहीं सब व्यसनों का निरसन करके साधु-सेवा में जीवन बिताने लगा।

हलधर की हार

श्री दयानन्द जी से पराजित पण्डित मण्डली ने पराजय का धब्बा धोने के लिए फिर हलधर ओझा को कानपुर से आमन्त्रित किया। वह तन्त्र शास्त्र का पण्डित था। इस कारण उसने प्रतिमा पूजन का विषय तो ओट में कर दिया और सुरापाण के औचित्य में प्रमाण कण्ठ में लाते हुए बोला, "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" इससे मद्यपान शास्त्र-विहित है। शास्त्र-निष्णात श्री स्वामी जी ने उसी के मनोनीत विषय पर आकर कहा, "यहां सुरा का अर्थ सोमवल्ली का रस है, समझे।" सुराप की एक मति तो होती नहीं, वह फिर अपनी मान्यता को तोड़कर प्रकरण से बाहर जाने लगा। तब स्वामी जी ने उसे वहीं झटका दिया, "पहिले मूर्ति-पूजा के पक्ष से हटे, अब मदिरापाण के सिद्धान्त को ठुकराते हो। पता है, शास्त्रार्थ में प्रतिज्ञा-हानि ही सबसे बड़ा दोष है। इसी प्रकरण पर विवाद कीजिए।" तब भी उसने कोई पक्ष न लिया और 'प्रकरण' इस शब्द पर ही स्वामी जी को उलझाना चाहा। महाराज ने उसे फिर आड़े हाथों लिया और 'प्रकरण' शब्द में कृ धातु समर्थ सिद्ध करके उसे 'समर्थ पदविधि' सूत्र में भ्रमा दिया। वह यह सिद्ध न कर सका कि 'समर्थपदविधि' सूत्र सार्वत्रिक है। तब स्वयं पण्डित वृन्द ने ही उसे प्रतिज्ञा-हीन घोषित कर दिया। विद्वानों की इस घोषणा से हलधर ने इसे अपना अपमान समझा। वह चक्कर खाकर गिरने वाला ही था कि लोगों ने उसे संभाल लिया और वे उसे विश्रान्ति में ले गए।

लोग दिग्विजयी दयानन्द की धाराप्रवाह संस्कृत, चमत्कारिणीमति और तात्कालिकी प्रतिभा पर लट्टू होकर जय-जयकार कर उठते थे।

वेश्या से हानि

उन दिनों धनी-मानी कुलीन लोग लोकलाज को ठुकराकर वेश्याओं को गले लगा रहे थे। इस कुचलन पर श्री दयानन्द के कठोर हितोपदेशों ने अनेकों को वैदिक सुपथ पर ला खड़ा किया। जब एक वाराङ्गना-सहवासी एक गलित युवक स्वामी जी के चरणों में उपस्थित किया गया, तो उन्होंने उसके आभा-हीन मुख पर अपने मुख-चन्द्र की शुभ्रज्योत्स्ना छिटकाते हुए कहा,—

"भद्र! इस ही वेश्या व्यसन से मनुष्यों में अनेक दुर्गुण आजाते हैं। वाराङ्गनारङ्गी जन के धर्म, कर्म, बुद्धि, वैभव, आचार, विचार, वेष भूषा सभी तो नष्ट हो जाते हैं। वह व्यक्ति की काय-कान्ति को लुप्त और देह को खोखला कर अस्थिपञ्जरावशेष बना देती है। उसके मधुर वचन स्वार्थ से सम्पृक्त विष तुल्य होते हैं। कुलविध्वंसिनी गणिका से उत्पन्न सन्तति पुत्र है, तो वह पिता का अनुकरण करेगी और पुत्री है तो ? (उत्तर की इच्छा से उसके मुख पर देखा)।"

"युवक बोला", "हाटों में बैठ कर वेश्या-कर्म करेगी।"

"सोम्य! क्या कोई माता-पिता अपने सन्तानों का यह व्यवहार सहन करेंगे ?"

इन मर्मस्पृक् शब्दों से युवक का हृदय कांप उठा। उसने हाथ जोड़ कर महाराज के चरण छुए और बोला, "आज से आपके सम्मुख प्रण करता हूँ, कि कांच समान लुभावने इस नीच कर्म के प्रलोभन में कदाचित् नहीं जाऊँगा, चरित्रनिधे!"

शिव प्रतिमा से घृणा उत्पन्न होने पर श्री वंशीलाल जी ने अपने नूतन शिवालय में जडमूर्ति की स्थापना न करके वदान्य दयानन्द के चेतन विद्यार्थियों की पाठशाला स्थापित करदी।

एक दिन स्वामी जी ने मल्लों के बल की परीक्षा ली। अपनी लंगोटी निचोड़ कर उन्हें दे दी और कहा, "अब आप इसे निचोड़ो।" वे पूरी शक्ति लगाकर भी उसमें से एक बूंद तक न निकाल सके। पुनः उसी में से स्वामी जी ने जल की कुछ बूंदें निकाल कर दिखाई। तब उन्होंने समझा कि बाबा बहुत बलवान् है।

योगी दयानन्द मनुष्यों के कुवचनों पर कर्णपात न करते थे, "शब्द आकाश

का गुण है, वह अपने कारण में ही लीन हो जाता है। हमारे पर उसका कोई संस्कार नहीं पड़ता।" ऐसा कह कर अपराधियों को क्षमा कर देते थे।

कितने पापी थे वे पेट्ट पुरोहित, जो अपनी उदर-पूर्ति के लिए श्री दयानन्द जी का अन्यथा ही वर्णन करते थे। जिस समय विद्वद्विजयी दयानन्द, भारतीय अनेक युवकों को, ईसाइयों के कुचक्र से निकाल कर भारतीय पुरातन धर्म में दीक्षित कर रहे थे, तो वे उस सुधारक को ईसाई और उनका अनुचर बताकर अनेक भावुकों को भावना-हीन बना रहे थे। इस प्रकार भारत का विशाल जन समूह युग प्रवर्तक उस महापुरुष के सान्निध्य लाभ से वञ्चित रह गया। इसका अवगमन तब हुआ, जब एक दार्शनिक सावरिया व्यक्ति विद्या में प्रसिद्ध श्री दयानन्द जी की वास्तविकता जानने के लिए रात के दो बजे उनके डेरे पर पहुँचा। उस समय महाराज आसन पर अधिष्ठित थे। दार्शनिक विद्वान् ने उन्हें सब प्रकार से टटोला; पर वहां किसी भी कोने में उसे भारत के विपक्ष का दर्शन न हुआ।

फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर संस्कार परिष्कारक श्री दयानन्द जी शृङ्गी रामपुर और जलालाबाद के नागरिकों का भला करते हुए संव्वत् १९२६ आषाढ़ प्रारम्भ में कन्नोज पहुंचे। वहां हरिशङ्कर से व्याकरण महाभाष्य पर चर्चा चली। उसे पञ्चमहायज्ञों और बलिवैश्वदेव के अनुष्ठान का विधान बताया और कहा, कितनी संस्कारहीन हो गयी है भारतीय जनता, जो नाम रखना तक भी नहीं जानती। देखिये आपका नाम कितना दूषित है—"हरि के दो अर्थ हैं; वानर और चोर दूसरे 'गयादीन' ब्राह्मण से कहा; "जिसका दीन ही चला गया, उसमें बचा ही क्या है?"

कायस्थों के विषय में पूछने पर स्वामी जी बोले—"ये अपने को चित्रगुप्त का वंशज बताते हैं। 'गुप्त' वैश्य को कहते हैं। ये आज-कल स्वधर्म को छोड़कर मांस मदिरा पर टूट पड़े हैं। अथवा वे अम्बष्ठ भी कहे जाते हैं, तब इनका पिता ब्राह्मण और माता वैश्य वर्ण से हुई। कुछ भी हो, ये वैश्य हैं। इन्हें अपना आचार सुधार लेना चाहिए।"

सात-आठ दिन कन्नोज ठहर कर यतिमणि कानपुर चले गए। वहां संस्कृत में एक विज्ञापन छपवा कर स्थान-स्थान पर लगवा दिया। जिसमें आठ गप्पों का खण्डन और आठ सत्यों का मण्डन करना लिखा था।[1] सम्पूर्ण नगर पक्ष-

---

[1] ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, ग्रन्थ में पृष्ठ १ से ३ तक देखिए।

विपक्ष में विभक्त होकर चलायमान हो उठा। प्रतिद्वन्द्वी अधिक थे। वे अपने अपने प्रश्न लाते। स्वामी जी उन्हें कहते—'एतदपि गप्पम्'। इस कारण वहां स्वामी जी का नाम 'गप्पा' बाबा पड़ गया। प्रतिपक्षी विभिन्न कुवचन उच्चारण में ही अपना महत्त्व समझते थे। यहां तक कि वे मारने-पीटने पर भी उतारू हो जाते थे, पर दयानन्द थे, जिनके समीप आकर चट्टान से टकराए लोष्ठ के समान वे चकनाचूर हो जाते थे।

हलधर की हार

कानपुर में प्रयागनारायण और गुरुप्रसाद ने कैलास और बैकुण्ठ नाम के दो मन्दिर लाखों रुपया लगाकर बनवाये थे। महाराज ने उन्हें उपदेश किया—"आप लोगों ने ईंट पत्थरों में रुपये का कितना दुरुपयोग किया है, यदि यह रुपया ३०-४० वर्षीया अविवाहिता बैठी हुई कान्यकुब्ज कुमारियों के विवाह में लगा देते; पाठशालाएं स्थापित करा देते, शिल्पोद्योग प्रारम्भ करा देते तो देश का कितना हित होता।" इस सत्परामर्श से आकृष्ट होकर उन दोनों ने विरोधिशिखामणि ब्रह्मानन्द सरस्वती को अपना सहयोगी बनाया और उनके सहाय से श्री दयानन्द जी के साथ शास्त्रार्थ करने में लक्ष्मण शास्त्री और हलधर ओझा को आगे किया। शास्त्रार्थ का स्थल श्री दयानन्द सरस्वती का स्थान भैरव घाट ही निर्धारित किया गया।

संव्वत् १९२६ श्रावण कृष्णा अष्टमी दो बजे से शास्त्र-चर्चा आरम्भ हो गई। सभा की मध्यस्थता श्री थेन महाशय ने की। उच्च पदाधिकारी, राजकर्मचारी तथा समाहर्ता (क्लैक्टर) भी मञ्च पर उपस्थित थे। पचास सहस्र की जनसङ्ख्या शास्त्रार्थ का परिणाम जानने के लिए शास्त्रीय वाक्यावली को कान देकर सुन रही थी। शास्त्र-विषय आठ गप्पों में से केवल मूर्ति पूजा पर ही केन्द्रित रहा। प्रतिमानुयायी अपने पक्ष की पुष्टि में वेद का कोई भी प्रमाण प्रस्तुत न कर सके। महाशय थेन ने भी अन्त में स्वामी जी से प्रश्न किये और वे सर्वथा सन्तुष्ट होकर अपनी छड़ी उठाकर जब चल पड़े, तो सारी सभा में कोलाहल मच गया और प्रतिमा पूजकों ने हलधर ओझा के पक्ष में जय-घोष लगा दिए।

जो लोग इस कपटलीला को समझ गए, उन्होंने अपनी देव-मूर्तियां जलमग्न करनी आरम्भ करदीं। इससे हलधर ओझा के हृदय को ठेस लगी। इस कारण उसने ३ अगस्त सन् १८६९ को 'शो लएतूर' पत्र में यह सन्देश छपवाया—

"जो कि दयानन्द सरस्वती के मतानुसार बहुत लोग ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य अपना कुलधर्म छोड़ कर देवी देवताओं को गङ्गा में प्रवाहित कर देते हैं, यह बात अच्छी नहीं है। इससे तो उत्तम यह है कि वे हमें सूचित करदें, हम उनके यहां से भगवान् को उठवाकर मन्दिर में रखवादेंगे।"

जब इस विज्ञप्ति से भी मूर्ति में अनास्थित लोगों पर कुछ प्रभाव न पड़ा, तो गुरुप्रसाद शुक्ल ने 'शो' लए तूर' के सम्पादक को हलधर के विजय का समाचार छाप देने की प्रेरणा करते हुए कहा, "यदि राज्य सरकार की ओर से इस मिथ्या प्रकाशन पर कोई आक्षेप किया गया, तो दस सहस्र रुपया मैं भर दूँगा।" सम्पादक महोदय ने यथा कथित वचन का पालन किया। स्वामी जी के पोषकों को इस असत्यप्रचार पर घोर घृणा हो उठी। वे महाशय थेन की सम्मति लिखा लाए। उन्होंने लिखा—

"भद्र पुरुषो ! उस समय मैंने दयानन्द सरस्वती फ़क़ीर के पक्ष में अपना निर्णय दिया था। मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियां वेद के अनुकूल थीं। मेरे विचार में उनका विजय हुआ। यदि आप कहेंगे, तो मैं थोड़े दिनों में इस निर्णय का कारण बतला दूँगा।"

कानपुर ७ अगस्त १८६६, आपका आज्ञानुवर्ती, डब्ल्यु थेन

जब समाचार पत्रों में थेन का उपर्युक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ, तो जन समुदाय ने अपनी देव प्रतिमाओं को जल में निरन्तर सुलाने की प्रगति और बढ़ा दी।

शिव प्रतिमा पर बिल्व चढ़ाकर आई हुई व्यक्ति से एक दिन महाराज ने कहा, "ये बिल्वपत्र इस बनावटी महादेव पर न चढ़ाकर यदि किसी ऊँट को खिलाओ, तो उसकी यत्किञ्चित् भूख भी मिटे।"

एक दिन भैरव देवता के चमत्कार सुनकर श्री दयानन्द ने कहा, मैं रात दिन भैरव के शिर पर बैठा, उसका और उसके साथी पाषाण देवताओं का खण्डन करता रहता हूँ। यदि इसमें कुछ अस्तित्व है, तो मुझे उठाकर फैंक दे।"

महाराज एक दिन गङ्गा में चौकड़ी मारे पड़े थे। उनके निकट एक मकर ने पानी से बाहर मुख निकाला। भक्त प्यारेलाल ने उसी समय कहा, "भगवन् ! निकल आइये। आप के समीप मगरमच्छ है।" महाराज बोले, जब हम इसे नहीं सताते, यह भी हम पर आक्रमण न करेगा।"

एक गङ्गापुत्र थोड़ी दूर खड़े रहकर प्रतिदिवस प्रात: महाराज को गाली दिया करता था । पर दयानन्द थे, जो कुछ न कहते थे । एक दिन श्री स्वामी जी के मिष्टान्न फल आदि बच रहे । गालीप्रदाता गङ्गापुत्र सम्मुख से निकला । महाराज ने उसे प्रेम से बुलाकर सब खाद्य सामग्री दे दी और कहा, ' प्रतिदिन आकर ले जाया करो ।"

कुछ दिन पश्चात् उसने निवेदन किया, "करुणानिधान ! मैं बहुत अपराधी हूं । मुझे क्षमा कर दीजिए । आपने मेरे कदाचार पर अपने सदाचरण की अमिट छाप लगादी है ।" समर्थ दयानन्द बोले, "मैंने तुम्हारी गालियों पर ध्यान नहीं दिया है, तुम भी पिछला किया विस्मरण करदो ।"

अपरिग्रह से दीक्षित श्री दयानन्द सरस्वती भैरव घाट की असम भूमि में ही ईंटों का सिरहाना लगाकर लंगोटबन्ध शयन करते थे । भक्त लोग सद्भाव भरी मुद्रा में उन्हें यथेष्ट सुख पहुंचाने की चेष्टा करते; पर वे कुछ भी स्वीकार न करते थे । जब उन्होंने स्थान छोड़ा तो अपने भक्तराज श्री हृदयनारायण को भी सूचित न किया । श्रद्धालु जन नित्य के समान स्थान पर उपस्थित हुए । जब महाराज का कुछ पता न लगा, तो वे उनकी विरक्तता और निस्पृहता को देख मुख पर उदासीनता ले आए । उनके तीन मास का आनन्द वैभव अकस्मात् ही म्लानता में समा गया ।

[गङ्गा कण्डिका समाप्त]

काशी काण्डका

कौपीन पहने दयानन्द रामपुर आए। श्री अविनाशीलाल जी और हरवंश लाल जी प्रतिमा पूजन में पूर्वतः ही आस्था न रखते थे, किन्तु अपने मत के प्रकटीकरण में साहसी न थे। जब दोनों ने सुना कि मूर्ति अर्चना का प्रत्याख्यान करने वाले एक परम हंस यहां पधारे हैं, तो वे अपने सहयोगी काशीवासी श्री ज्योतिःस्वरूप को लेकर सत्य की गवेषणा से श्रीचरणों में पहुंचे। वे दयानन्द के मुखारविन्द से निकले सिद्धान्त सुधारस को दो घण्टे तक चखते रहे। महाराज की विचार सरणी से प्रसन्न होकर ज्योतिःस्वरूप ने अनुगामियों से पूछा—"कहिये आप लोगों को कुछ वक्तव्य है?"

"कुछ नहीं, अवधूत जी शास्त्रानुकूल ही बोलते हैं।" दोनों ने एक साथ कहा।

काशी के महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह रामपुर में ही रहते थे। श्री सन्त दयानन्द की भोजन-व्यवस्था उन्होंने ही की, किन्तु महाराजा द्वारा अनेक वार राजप्रासाद में आमन्त्रित किये जाने पर भी वे वहां नहीं गए और कहला भेजा—"मुझे उनके यहां जाने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें कुछ पूछना हो, तो यहां आजावें।"

गप्पाष्टकों के विरोधी श्री दयानन्द जी की विचार पद्धति का परिचय जब काशी नरेश को हुआ, तो उन्होंने गोघाट वासी प्रसिद्ध निरञ्जनानन्द जी से पूछा, "स्वामी दयानन्द जी का मत है कि वेद में मूर्ति-पूजा और रामलीला नहीं है, आप इसमें क्या कहते हैं?" उत्तर में वे बोले—"वेद में न होते हुए भी उन्हें लोकाचार से चलाते ही रहना चाहिए।" इस प्रतिवचन ने नरेन्द्र को सन्तुष्ट न किया।

एक समय साठ वैरागी उपद्रव करने स्वामी जी के डेरे पर पहुंचे। परिबोध होने पर नरेश ने आदेश किया, "स्वामी जी से शास्त्र-चर्चा कोई भी कर सकता है; पर हमारे अतिथि को अपमानित करना हमारा ही अपमान है।"

काशी शास्त्रार्थ

कार्तिक कृष्णा २ संव्वद १९२६ को अद्वितीय दयानन्द जी ने काशी नगरी

को गौरवान्वित किया। काशी नरपति ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह को सूचना भेजी, "आपका कर्तव्य है कि सत्यासत्य के निर्णयार्थ शास्त्रार्थ करा के जनता को सुपथगामिनी बनाया जाय।" काशी नरेन्द्र भी अहिनश की प्रतिमाचर्चा से उचाट हो चुके थे, अतः निश्चय कर लेना उन्हें भी स्वीकार हुआ। काशीपण्डितों ने सज्जा के लिये पन्द्रह दिन का समय मांगा, जो प्रभु दयानन्द की अनुमति से दे दिया गया। इन पन्द्रह दिनों में काशी के पण्डित कभी वेश परिवर्तित करके कभी दूसरा नाम रखकर, विद्यावारिधि दयानन्द की थाह लेते जा रहे थे। स्वामी जी जिन प्रश्नों के उत्तर देना वहाँ उचित समझते, देते, अन्यथा कह दिया करते "इस पर चर्चा शास्त्रार्थ के समय होगी।"

शास्त्रार्थ का दिन कार्तिक सुदी द्वादशी मङ्गलवार था। जब नियत समय पर विद्यामार्तण्ड दयानन्द को आच्छादित करने के लिए दल बल के साथ काशीपण्डित मण्डल का घटाटोप कोने कोने से उठकर शास्त्रार्थ के आनन्दोद्यान-आकाश में एकत्रित होने लगा, तो बलदेव भक्त ने महाराज से निवेदन किया,—

"भगवन्! शास्त्रार्थ की दिशाएं तो धूमिल प्रतीत होती हैं। ऐसी अवस्था में आपका संरक्षण आवश्यक है। ये शास्त्रार्थी नहीं, कुचेष्टाकारी दीख पड़ते हैं।"

दयादन्द यति ने दृढता से कहा, "बलदेव! आकाश में स्थापित ज्योतिस्पुञ्ज सूर्य जैसे अन्त में विजय लाभ करता है, उसी प्रकार ईश्वरीय वेद का प्रचार करने वाला दयानन्द अन्त में ज्ञानकिरण को विकीर्ण देखकर ही अपने कार्य को आगे बढता देखता है। दुश्चेष्ट मनुष्य की रग-रग में उत्पात भरा होता है, बलदेव! वह उसे प्रदर्शित करके ही शान्त होगा। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। योगपरायण जन शरीर-निष्ठा से उठकर ब्रह्मनिष्ठ होते हैं, तब ब्रह्म ही उनके देह का दुर्भेद्य कवच हो जाता है।"

शास्त्रार्थ युद्धस्थल में स्वामी विशुद्धानन्द, बाल शास्त्री, माधवाचार्य, वामनाचार्य, शिव सहाय, ताराचरण,, जयनारायण और तर्कवाचस्पति प्रभृति अठाईस काशीपण्डित प्रतियोगी थे। काशी नरेश तटस्थ रहकर इन्हीं के उद्दीपक बने। इस कारण खुल्लम खुल्ला उपद्रव किये जाने की आशङ्का हो उठी।

श्री रघुनाथप्रसाद मुख्यथानाधिकारी ने पहले ही शास्त्र-स्थान पर पहुँच ऐसा प्रबन्ध किया था कि पण्डित दयानन्द के साथ एक व्यक्ति ही क्रमशः अग्रवर्ती हो, किन्तु ज्योंही काशी नगराधिपति वहां पहुँचे, उनके साथ ही सब पुराण पण्डित और

जमघट आगे बढ कर आया। इस प्रकार उस आदेश का उल्लङ्घन हो गया और श्री दयानन्द को सब ने चहुँ ओर से घेर लिया। श्री पण्डित ज्योति:स्वरूप और जवाहरदास, जो काशी पण्डितों के चालों के भेदी थे, उन को भी स्वामी जी के समीप से प्रसह्य बाहर कर दिया गया। स्वामी जी ने शास्त्रार्थ होने से पूर्व ही यह भान कर लिया था कि सकल पण्डितों में बाल शास्त्री ही ऐसा है, जो कुछ काल टिक सकेगा। शेष तो काक भाषी पण्डितब्रुवा हैं।

वहां किसी भी नियम का पालन होते न देख, काशी नरेश और पण्डित समाज को मुख्य थानाधिकारी ने उपालम्भ दिया। ऐसा किया जाना भी जब व्यर्थ गया, तो साहस पूर्वक उसने कहा, "स्वामी दयानन्द के साथ एक समय में एक ही वक्ता आगे आयेगा। यह नियम निश्चित हुआ है।"

इस घोषणा के साथ शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। उस समय तीन बजे थे। ऐतरेयालोचन ग्रन्थ के लेखक श्री पण्डित सत्यव्रत जी सामश्रमी, उभयपक्ष के वाद को लिखते जा रहे थे। प्रतिपक्षी प्रतिज्ञा हानि से निग्रह स्थान में आकर पराजित होते रहे। किन्तु दयानन्द सरस्वती उन्हें और भी अवकाश दे देते थे, जिससे वे कहीं से भी प्रतिमा अर्चन में प्रमाण उपस्थित कर सकें। जब उनसे कुछ करते न बना और चार घण्टों के परिश्रम ने सात बजा दिए, तो झुटपुटे अन्धेरे में पण्डितों ने दयानन्द वाग्मी की वाणी पर अङ्कुश लगाने के लिये उनके हाथ में एक ऐसा पुस्तक पृष्ठ दे दिया, जिस पर ग्रन्थ के नाम का भी उल्लेख न था। स्वयं पढने में यह कह कर नकार कर दिया कि हमारे साथ उपनेत्र नहीं हैं। विवश हो स्वामी जी गहरे ध्यान से उस पन्ने को देखने लगे। विचार के लिये दस मिनट का काल निश्चित था। इस प्रकार उन्हें कुछ भी तो समय न बीता था, कि सत्य प्रचारक उस दयानन्द सरस्वती की पीठ पर हाथ रखकर विशुद्धानन्द जी यह बोलते हुए खडे हो गए कि "जो कुछ होना था, हो चुका।"

सङ्केत पाकर सारी सभा नरपति सहित अपने विजय में करताल कर उठी। इससे सर्वत्र उत्पात मच गया। स्वामी जी पर ईंट, पत्थर; गोबर और कंकर की अविरल वृष्टि आरम्भ हो गयी। थाना मुख्यारक्षी ने कुशलता से स्वामी जी को भीतर कर लिया और किवाड़ लगा दिए। भीड़ जब स्वामी जी को चोट न पहुँचा सकी, तो वह अपने विजय के समाघोष लगाती हुई अपने घरों को लौट गयी।

पण्डित ईश्वरसिंह निर्मले सन्त को श्री दयानन्द जी के इस अवमान का पता लगा, तो वे महाराज के समीप यह देखने आए कि इस की उन पर क्या प्रतिक्रिया है ?

ईश्वरसिंह ने आनन्दोद्यान में पहुंच कर श्री दयानन्द सरस्वती को चन्द्रमा की चांदनी में भ्रमण करते पाया। महाराज ने उनका यथोचित सम्मान किया और उससे पर्याप्त रात तक ज्ञान-चर्चा की। उस गोष्ठी में ईश्वरसिंह जी ने एक बार भी तो उस छलना से उनका मुख खिन्न न देखा और न ही तत्सम्बन्धी कोई शब्द सुना। वहां ऐसा प्रतीत होता था, जैसे कुछ हुआ ही न हो। तब पण्डित ईश्वरसिंह जी ने भगवान् दयानन्द के चरण स्पर्श करते हुए कहा, "भगवन् मुझे आज प्रतीत हुआ है कि आप केवल विद्यानिधि ही नहीं हैं, आदर्श योगी सिद्ध महात्मा भी हैं। यह आपका ही धैर्य है कि ऐसी तिरस्कार पूर्ण असाधारण घटना में भी आप अक्षुण्ण बने हैं।"

जब काशी शास्त्रार्थ का विजय-निर्णय स्वामी जी के पक्ष में क्रिश्चियन इन्टेलिजेन्सर, पायोनियर, हिन्दूपैट्रियॉट, प्रत्नकमर नन्दिनी, रुहेलखण्ड समाचार पत्र और ज्ञान प्रदायिनी लाहौर की पत्रिका में प्रकाशित हुआ, तो सम्पूर्ण भारत में धार्मिक क्रान्ति हिलोरें ले उठी। जिस प्रकार युद्ध काल में सभी समाचार पत्रों के प्रमुख पृष्ठ युद्ध वृत्तान्तों से सजीव हो उठते हैं, ठीक उसी प्रकार श्री दयानन्द जी की अधर्मध्वंसिनी ध्वजा मानव को वैदिक पथ पर लाने के लिए भारत के उत्थापक पत्रों को उज्ज्वल बना रही थी। आश्चर्य यह है कि अकेले दयानन्द ने वेद विरुद्ध सब धर्मों को विलोडित कर डाला और वह विजयी भी होता चला गया। उसकी शक्ति का कोई वाणी से क्या वर्णन करे जिसने बहती हुई मिथ्या ज्ञान जाह्नवी को ही विपरीत दिशा में मोड़ दिया हो।

निर्भीक संन्यासी दयानन्द जी ने काशी शास्त्रार्थ की पुस्तिकाएं प्रकाशित कराके वितरण करा दीं, जिनमें काशी के विद्वानों को पुनः ललकारा गया, किन्तु किसी ने भी सम्मुख होने का साहस न किया।

अंग्रेज शासक स्वमत पर नहीं के समान और भारतीय मतों पर वात्या वायु के प्रबल धक्के के तुल्य आघात होते देख प्रसन्न थे कि भारत वासी स्वयं अपनी मान्यताओं की उलझनों में उलझ गए हैं, जिससे बृटिश शासन के प्रति राज्य क्रान्ति की भावनाएं दुर्बल पड़ती जा रही हैं, किन्तु उसे क्या पता था कि यह धर्म उन्नयन ही राज्य-हरण का मूल है। उस समय राष्ट्रनिर्मापक चतुर

दयानन्द जी को समझने वाले इस देश में वे ही थे, जो उनके सत्य प्रतिपादन को स्वीकार करके अपने देश का गौरव अनुभव करने लगे थे। अन्ता राजनयिक दयानन्द सरस्वती के प्रताप से उनके साहस शत गुण्य होते जा रहे थे।

जैसे जानपद शल्यचिकित्सक शल्यक्रिया में दया प्रदर्शित नहीं करता, ठीक वैसे ही दयामय दयानन्द भी पामर मत के प्रतिकार में अपने उच्चस्तर से नीचे नहीं उतरते थे।

काशी में महामहोपाध्याय राम स्वामी मिश्र अत्यन्त खर्व थे। वे अपने यौवन के गर्व में उन्मत्त हुए देव दयानन्द से रात को आकर बोले, "मैं छुरी लेकर आया हूं। इसे बीच में रख देता हूं। हम दोनों में जो पराजित हो जाएगा, इससे उसकी नाक काट ली जायेगी।"

श्री दयानन्द जी उससे भी आगे बढ़कर बोले—"एक संविदा मेरी भी स्वीकार करो, वह यह कि शास्त्रप्रवृत्ति में नासिका निरपराधिनी है। वस्तुतः इस अप्रियता में तो जिह्वा कार्य करती है। यह चाकू मध्य में और रखलो, जो निरुत्तर हो जाये, उससे उसकी जीभ काट ली जाये।" इस प्रकार परस्पर के स्वीकरण में शास्त्र वार्ता आरम्भ हो गयी। महामहोपाध्याय जी तो अल्पकाल में ही दम तोड़ने लगे और सर्वथा भग्नोद्यम हो, सरल-मधुर सम्भाषण पर उतर आये। इस प्रकार पराजित होने पर भी स्वामी जी ने उन्हें क्षमा कर दिया।

एक दिन कुछ मुसलमानों ने महाराज को जल में डुबाकर मारदेने की दुर्भावना से उन्हें बग़ल और कन्धों से पकड़ा। ज्यों ही वे फेंकने को हुए, कि स्वामी जी ने उन्हें कक्ष में दबा छलाङ्ग लगा दी। जब देखा कि ये मरणासन्न हैं, छोड़ दिया और स्वयं पानी में पद्मासन किये छुपे रहे। डूबने से बच उन मुसलमानों ने जैसे-तैसे गङ्गा तट पर लग कर पुनः पत्थरों से चोट पहुँचाने की चेष्टा की, पर सब व्यर्थ गयी। निराश होकर जब वे लोट गये, तो महाराज बाहर निकल आए।

एक दिन एक व्यक्ति ने भावना-भरित-मुद्रा में आकर भोजन का थाल लाकर स्वामी जी के सम्मुख रक्खा और कहा—"भगवन् भोग लगाइये।" वे आहार कर चुके थे, अतः नकार किया। उसने फ़िर उनकी ओर पान सरकाया। वे पान खाते न थे, किन्तु उसकी कपट लीला को योगदृष्टि से ताड गये कि इस में विष है। महाराज ने ज्यों ही उसे खोला, वह उठकर भाग गया। पश्चात् उस का परीक्षण कराया गया, तो धारणा सत्य निकली।

काशी के उद्दण्ड गुण्डों की भी ऐसी ही क्रियाएं थीं। महाराज ने भक्त बाबा जवाहरदास से कहा—"आप घबराते क्यों हैं। इस प्रकार की बातें मेरे जीवन में आ–आकर पुरानी पड़ गयी हैं। जब मैं छोटा था, तब हमारे खेत पर पड़ोसी ने अधिकार कर लिया था। कुपित होकर मैं ज्यों ही कृपाण हाथ में ले उनपर झपटा; तो वे टिक न सके। अब तो दस-पन्द्रह के लिये मैं एकाकी ही पर्याप्त हूं।"

उत्साही दयानन्द का हुंकार भी सिंह की गर्जना के समान था। एक दिन एक उत्पाती मोटा सोटा लिए उन का पीछा कर रहा था, जब वह अतीव निकट आ गया तो कुछ शङ्का हुई और मुड़कर ऐसी दहाड़ लगाई कि वह सब चौकड़ी भूल गया।

प्रयाग का कुम्भ

संव्वत् १९२६ माघ शुक्ला पञ्चमी को यतिराज दयानन्द कुम्भ के मेले पर प्रयाग पहुंचे। वहां एक अति तार्किक तीक्ष्णमति माधवचन्द्र चक्रवर्ती ब्राह्मण मिले। वे सर्वथा नास्तिक और हिन्दू धर्म में विरक्त थे। मांस-मदिरा सेवन और वाराङ्गना-गमन तो उनका दैनिक कृत्य बन चुका था। उन्होंने १०१ प्रश्न सङ्कलित करके रख छोड़े थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी इस व्यक्ति को सन्तुष्ट न कर सके। स्वामी दयानन्द जी की प्रथिति सुन माधवचन्द्र वहां भी उपस्थित हुए। थोड़ी ही देर में दयानन्द भानु ने उनका अज्ञान तिमिर हटाकर उनके अन्तःकरण को उद्भासित कर दिया। समस्त दुर्व्यसनों को निरस्त कर वे ऐसे आस्तिक बने कि सन्ध्या और बलिवैश्वदेव विधि अपने हाथों से लिखा और उसे महाराज के अर्पण किया। अपने मित्रों से वे स्पष्ट कहते, "मेरी दिन चर्या के संस्कारक का शुभ नाम "दयानन्द सरस्वती" है।

श्री माधवचन्द्र में सन्ध्या-हवन और गायत्री जप से इतनी आत्मशक्ति बढ़ी कि एक अभियोग में पराजित होने पर भी वे प्रसन्न दीखते थे।

हिन्दी में बोलने का अभ्यास

एक दिन की बात है – एक देवी ने अपना मृतबालक गहरे नीर में विसर्जित करके उसका आवरण वस्त्र उतार लिया। स्वामी जी इस अमङ्गल को देख रहे थे। वे भारत की निर्धनता पर द्रवित हो, सोचने लगे "जो माता अपने कलेजे के निर्जीव टुकड़े को तो त्याग सकती है, पर मरणावरण को उसी के साथ नहीं छोड़ सकती, इससे अधिक देश की दुर्दशा और क्या हो सकती है!"

इस घटना के अनन्तर श्री दयानन्द सरस्वती ने भारतवासियों को विदेशीय शासन से छुड़ाने के लिए आर्यभाषा हिन्दी में सम्भाषण करने का निश्चय कर लिया, जिससे वे वैदिक धर्म को सर्वोपरि समझ, उसके पालन से दीन-हीन न बने रहें।

मेले में राष्ट्रवादी दयानन्द का अनेक साधु, सन्तों और मठाधीशों से भी शास्त्रालाप हुआ। वे उनके मानस में परतन्त्र भारत के लिए कुछ भी तो पीड़ा न देख, उनके प्रवृत्ति और निवृत्ति शब्दों में दोष दर्शाने लगे, "निषिद्ध कर्मों का आचरण प्रवृत्ति और वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान ही निवृत्ति है। निष्क्रिय हो जाने का नाम 'निवृत्ति' नहीं है; क्योंकि निष्क्रियता किसी भी प्राणी में सम्भव नहीं है। साधु लोग भी दो-दो कोस चलकर भिक्षा लाते हैं। जिसका खाएँ, उसको सन्मार्ग दिखाएं, यह ही कृतज्ञता है। इस प्रकार वेद-प्रचार में जीवन लगाना सभी को विरक्ति की ओर ले जाता है। जो मठ आपके अधिकार में पहले नहीं थे वे पीछे भी नहीं रहेंगे। फिर उनके मोह में गृहस्थों की भांति फंसे रहना फंसावट से अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस कारण उचित यह ही है कि साधु बने हो, तो देशोद्धार के लिए कटिबद्ध हो जाओ, जिससे परतन्त्र भारत भारत के कराहते हुए नागरिक स्वतन्त्र होकर सुख-चैन से रह सकें।"

फाल्गुन में श्री स्वामी जी मिर्ज़ापुर आए। समाचार मिलते ही पं० मोती-राम श्रीचरणों में पधारे। महाराज ने पूछा, "क्या प्रतिमा पूजन का कोई प्रमाण वेदों में मिला ?"

"जी नहीं"

"तो भाई ! इस आडम्बर को छोड़कर योगाभ्यास करो, वह ही कैवल्य साधक है।"

अर्धशिक्षित दो पुरुष गोविन्द भट्ट और जयश्री स्वामी जी से भागवत को वेदानुकूल सिद्ध करने आए। जनता ने गोविन्द भट्ट को अल्पविद्य देख जयश्री को महाराज से टकरा दिया। विवृत विशाल भूभाग पर चर्चा प्रारम्भ हो गयी। जयश्री बोला,—

"मूर्ति-पूजा के प्रत्याख्यान में वेदों का कोई वचन प्रस्तुत कीजिये।"

"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" स्पष्ट ही इस में निषेध दीख रहा है" स्वामी जी ने कहा।

जयश्री इसका दूसरा अर्थ करने लगे, तब स्वामी जी बोले—

"अपने अर्थ की पुष्टि में कोई प्रमाण दीजिए, ऐसे बात नहीं बनेगी।"

वह और कुछ लेकर आया ही न था, क्या बोलता ? तब स्वामी जी ने श्रुति-वाक्य उपस्थित करके अपने अर्थ की सार्थकता सिद्ध करदी। इतने में ही पीछे बैठा हुवा खलताप्रिय एक मनुष्य करतलध्वनि कर उठा। स्वामी जी सहसा खड़े हुए और बोले, "कौन है, जो ऐसा दुर्व्यवहार करता है। मैं अकेला ही सब के लिए बहुत हूँ।" यह सुनते ही उस दुष्कृत ने क्षमा मांग ली। सन्ध्योपासना का समय भी हो गया था; अतः महाराज ने सब को भेज दिया।

एक दिन छोटूगिरि गोसाईं अपने एक साथी के साथ आकर उन से सट कर बैठ गया। महाराज के दो-तीन सेवक भी घटना स्थल पर उपस्थित थे। दिव्य दयानन्द ने अपने दिव्य चक्षुषों से उसकी उद्दण्डता को भांप लिया था और वे उसकी द्वितीय चेष्टा की प्रतीक्षा में थे। जब उसने समीप रक्खे दौने में से एक-एक बताशा खाना आरम्भ किया तो महाराज ने नम्रता से कहा, "सब बताशे झूठे न करो। जितने अपेक्षित हों, इकट्ठे उठा लो।" वह बोला, "बच्चा, हमारी झूठन से घृणा करता है। हम तुम्हारे गुरु हैं। खण्डन मण्डन का अभी पता चल जायेगा।"

स्वामी जी उसी क्षण खड़े हो गये और बोले, "मूर्ख ! तू मुझे भय दिखाता है, यदि मैं भय-रहित न होता, तो देश देशान्तर में भ्रमण करके प्रचार कैसे कर सकता था ? फिर सेवकों से कहा, कपाट बन्द करदो, मैं इसे अकेले ही ठीक किए देता हूँ।"

इतना कहना था कि वह तो भीगी बिल्ली बन गया। झट दूसरे साथी ने हाथ जोड़कर पूछा, "महाराज ! हम कैसे जानें, मूर्तिपूजा अमूलक है ?"

दयालु दयानन्द पिघल गए। उसे समझाने लगे।

विरोधियों का विरोध प्रबल था। एक तान्त्रिक ने मिर्जापुर में आकर मारण, मोहन, उच्चाटन के विश्वासी एक सेठ से कहा, "मैं ऐसा पुरश्चरण कर सकता हूं, जिससे २१ वें दिन विरोधी जन का शरीर छूट जावे।"

सेठ प्रसन्न हुवा बोला—

"बहुत अच्छा ! अच्छे समय पर आए हो, दयानन्द के ऊपर ही अपना तीर चलाओ, मैं इसका पूर्ण व्यय दूंगा।"

इस दुश्चिन्तन का सन्देश स्वामी जी को भी मिल चुका था। अनुष्ठान आरम्भ हुए तीन दिन ही बीते थे कि मन्त्र उलटा धनी पर ही चल पड़ा। उसके

गले में विस्फोट निकल आया। वह इतना कष्टप्रद बना कि खाना, पीना, थूकना, सटकना सब कुछ दूभर हो गया। बनिये ने चलती क्रिया को वहीं रोक दिया और कहा, "मन्त्रशास्त्रिन् ! दयानन्द का शिर तो गिरे वा न गिरे। मेरा तो गिरा ही जा रहा है।"

मिर्ज़ापुर में एक वैदिक पाठशाला चैत्र १९२७ में महाराज ने स्थापित की। छह वर्ष से पूर्व किसी भी छात्र को पाठशाला-त्याग की अनुमति न थी। जो विद्यार्थी सूर्योदय से पूर्व उठकर अपने सन्ध्या अग्निहोत्र पर्यन्त नित्य कर्म नहीं करता था, उसे उस दिन निराहार रहकर पूरे दिन गायत्री जप का आदेश था।

छोटूगिरि पुजारी ने पुनः दो उजड्ड गुण्डे महाराज को पीटने भेजे। वे वहां आकर हंसने और व्यङ्ग कसने लगे। स्वामी जी उस समय पं० रामप्रसाद को शास्त्रीय रहस्य समझा रहे थे; किन्तु जब उनकी उच्छृङ्खलता सीमातीत हो उठी, तो महाराज ने ऐसा हुंकार लगाया कि वे दोनों अचेत होकर धड़ाम से गिर पड़े। उनका मूत्र-पुरीष भी वहीं निकल गया। पं० रामप्रसाद ने तो उस नाद को असह्य देख कानों में अङ्गुलियां लगा लीं। फिर महाराज और पं० जी ने दोनों को जल के छींटे देकर सचेत किया।

पुनः काशी में

मिर्ज़ापुर से प्रस्थान कर वह ज्योतिर्महापुरुष काशी में पुनः सुशोभित हुआ। काशी पण्डितों को ललकारा। 'अद्वैत मतखण्डन' पुस्तक भी वितरित किया; फिर भी कोई सम्मुख न आया। केवल सत्यनिष्ठ श्रद्धालु जन चरणों में उपस्थित हो, शास्त्र प्रसङ्ग से अपना सौभाग्य समझते रहे।

काशी नरेश ने श्री दयानन्द के साथ किये गए अपने दुष्कृत्य को धोने के लिए उन्हें ससम्मान राजप्रासाद में आमन्त्रित किया। पुष्पमाला से अलंकृत करके सुवर्ण सिंहासन पर आरूढ किया और स्वयं भी समीप ही राजत पीठिका पर बैठ गए। हाथ जोड़ निवेदन किया, "प्रभो ! हम पामर हैं, जो योगी महात्माओं को भी पीड़ा देते हैं। हमारे यहां पीढियों से प्रतिमा पूजन चला आ रहा है। हम उस समय उसका खण्डन सहन न कर सके थे। हमारी दुर्भावना से आपको जो क्लेश पहुँचा, करुणानिधान ! उस दोष से हमें मुक्त कर दीजिए।"

क्षमाशील संन्यासी ने कहा, "वत्स ! मैं तो उन बातों को उसी समय भूल गया था। तुम्हें भी विस्मरण कर देना चाहिए।"

जब स्वामी जी वहां से चलने लगे, तो नरपति ने उन्हें अनेक उपहारों से समादृत करके बग्घी में बैठाया और उनके निवास निकेतन पर पहुँचा दिया।

काशी को छोड़कर पर्यटक दयानन्द फरुंखाबाद होते हुए सोंरों आए। यहां भी पाठशाला चालू की तथा पिछली पाठशाला जैसे ही नियम स्थिर किए।

एक दिन गुलजारीलाल खत्री के उद्यान के सम्मुख दो सांड परस्पर भिड़ रहे थे, जिससे उभय पक्षीय यातातात अवरुद्ध हो गया। महाराज भी उधर से निकले जा रहे थे। लोगों ने उन्हें आगे बढ़ने से रोका; पर वे चलते ही गए और ज्योंही अहिंसा में प्रतिष्ठित योगी दयानन्द जी सांडों के निकट पहुंचे, वे निर्विरोध हटकर चलते बने। इस आश्चर्य पर चैनसुख ने पूछा—"प्रेमनिधे ! यदि सांड आप पर ही टूट पड़ते, तब आप क्या करते ?"

स्वामी जी ने मीठी हंसी में उत्तर दिया—"करता क्या, उनका विरोध परस्पर में था, मुझ में नहीं। यदि वे स्वयं नहीं छूटते, तो सींग पकड़कर पीछे धकेल देता।"

विना कहे ही कासगञ्ज से चलकर निस्पृह योगी दयानन्द, बलराम, चक्रेरी, इनोट और रामघाट होते हुए संव्वत् १९२७ आश्विन में अनूपशहर पहुंचे। तब वहां रामलीला हो रही थी। उसका खण्डन आरम्भ कर दिया, जिससे अनेक नागरिक प्रभाव में आगये। उन्होंने आगे राम की वह कृत्रिम लीला होने ही न दी। उस कुकृत्य के संयोजक ताल्लुके के उपाधिकारी कल्याणसिंह ने कृष्णानन्द को संव्वार्ता के लिए उत्तेजित करना चाहा, पर वह तो प्रथम ही पराजय का मुख देख चुका था।

दैव योग से समहर्ता महोदय अनूपशहर पधारे। यतिराज की उत्कृष्ट प्रणाली से वे बहुत प्रभावित हुए। राम की लीला रचने के लिए कल्याणसिंह ने बलात् अंशदान एकत्रित किया था। प्रमाणित होने पर समाहर्ता ने उसे तीन मास के लिए निलम्बित कर दिया।

महाराज असाधारण धिषणा के धनी थे। उन्होंने पं० भगवान् वल्लभ से सुश्रुत संहिता मंगाकर देखी। वे उस सबको दो दिन में ही पढ़ गए। प्रवचनों में उसके उद्धरण भी उपस्थित करने लगे। कार्तिक पूर्णिमा का मेला था। स्वामी जी उस मेले में नग्न ही थे। बालक पूरणसिंह[1] ने अपने पिता से पूछा—"पिता जी!

[1] ठाकुर पूरणसिंह जी बनैलवासी श्री उदयवीर जी शास्त्री के पिता थे।

इन बाबा को ठण्ड नहीं लगती ?" स्वामी जी ने यह बात सुन ली और कहा, बच्चा ! हमें ठण्ड नहीं लगती है देखो, स्वामी जी ने खड़े-खड़े ऐसा श्वास रोका कि माथे पर प्रस्वेद-बिन्दु चमक उठे।

वहां से रामघाट, चासी होकर यतिराट् छलेसर आए। उस दिन मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी थी। ४००, ५०० श्रोता प्रतिदिन उपदेश श्रवण करते। कुछ वैदिक मत ग्रहण करते, कुछ पूर्व हठ पर दृढ रहते। मौलवियों में केवल इमदाद अली ने दयानन्द के यौक्तिकवाद को स्वीकार किया।

यहां भी पाठशाला का आरम्भ किया, जिसमें अनार्ष ग्रन्थों का सर्वथा वर्जन था।

आर्ष पुरुष दयानन्द वहां से रामघाट, फर्रुखाबाद में पाठशालाओं का निरीक्षण करते हुए संव्वत् १६२८ के मासान्त में तीसरे वार पुनः काशी में प्रविष्ट हुवे। वहां विद्वानों को आमन्त्रण भेजा; पर उन तिलों में तैल न था; अतः घर बैठे रहना ही उनके लिए हितकारी रहा।

चैत्र शुक्ला नवमी को अवधूत दयानन्द ने काशी छोड़ दी और मुगलसराय में पदार्पण किया। वहां एक पादरी लाला विहारी ने कहा, "ईसा सबके दोष लेकर चले गए। तब महाराज ने खण्डन किया, "ऐसी बातें असम्भव हैं। पाप-पङ्क में फंसते रहने की पोषिका हैं। ध्यान रखिए, अपराध क्षमा करने से दुष्कर्मों में प्रवृत्ति और भी अधिक होती है।

दुर्गादत्त पराजित

दस दिन निवास कर महाराज डुमराऊ पहुंचे। वहां के महाराजा ने उन्हें देख गौरव अनुभव किया। दुर्गादत्त नामक एक अहङ्कारी पण्डित अपने नाम के पीछे योगिवर्य, परमहंस, विप्र, राजेन्द्र आदि उपाधि लगाया करता था। अपने साथ अण्डाकृति कृष्णवर्ण का एक प्रस्तर-खण्ड भी रखता था। महाराज के सम्मुख जब उसने उसे एक पटल पर रक्खा, तो उन्होंने पूछा, "यह क्या है ?"

दुर्गादत्त "यह नर्मदेश्वर महादेव हैं।"

स्वामी जी "नर्मदा तट पर पर्यटन करते हुए ऐसे महादेव तो स्थान-स्थान पर पड़े देखे गए हैं।"

दुर्गादत्त—"आप द्वैत मत मानते हैं वा अद्वैत ?"

स्वामी जी—"हम वेदोक्त द्वैत के ही अनुगामी हैं।"

दुर्गादत्त—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" यह तो द्वैत का निषेधक है।

स्वामी जी—"इस से सजातीय निषेध है, विजातीय नहीं। जीव चेतना में सजातीय होता हुआ भी विजातीय है तथा प्रकृति तो विजातीय है ही। यह वाक्य केवल एक से भिन्न ब्रह्म का प्रतिषेध करता है।"

दुर्गादत्त—"यह पक्ष हमे अङ्गीकार नहीं।"

स्वामी जी—"अपने अनङ्गीकरण का कारण बताइये।

(दुर्गादत्त निरुत्तर हो जाता है)

स्वामी जी—"प्रतिमा-पूजन का साधक कोई मन्त्र नहीं है।"

दुर्गादत्त—"है क्यों नहीं, यह लीजिए—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्॰—त्र्यम्बकं यजामहे॰ इत्यादि।"

स्वामी जी ने उसे इन मन्त्रों का सत्य अर्थ बताया और उसके भ्रम-निवारण का प्रयास किया। जाबाल उपनिषद् के प्रमाण उपस्थित करने पर महाराज ने उसे जाल उपनिषत् ठहराया, जो वेद-विरुद्ध है। पश्चात् दुर्गादत्त ने वेद मन्त्र से 'प्रतिमा' शब्द का उद्धरण सम्मुख रक्खा। वेद पारखी ने उसका अर्थ 'सदृश, तुल्य' किया, तो रोष आगया और गाली देने लगा। इस अप्रिय प्रवर्तन से मुंशी रणधीरप्रसाद जी उसें वहां से उठा ले गये।

डुमराऊँ से स्वामी जी आरा पहुँचे। जहाँ 'वैदिक धर्म' की, संस्कृत में दो बार व्याख्याएँ कीं, जिनका अनुवाद हिन्दी भाषा में वाक्य के साथ-साथ कर दिया जाता था। आर्य धर्म और आर्य रीति-नीति के प्रसारार्थ यहां एक सभा की स्थापना भी की।

भाद्र शुक्ला ३ संव्वत् १९२९ को यतिवर्य ने पटना नगर को शोभा प्रदान की। "मृत्यु के अनन्तर जीव की क्या गति होती है?" छोटेलाल के यह पूछने पर स्वामी जी ने समाधान किया, "वायु के आश्रय से आकाश में, पुष्प में, अन्न में, जल में क्रमशः आता हुआ वीर्य में पहुंच, गर्भ में स्थिर होता है। दसवें मास में पुनः संसार के दर्शन करता है।"

"संसार त्याग देना उचित है वा नहीं?" गुरुप्रसाद अधिवक्ता के पूछने पर महाराज ने उत्तर दिया "क्या संसार में खाना, पीना, उठना, बैठना, जागना, सोना, सांस लेना, स्नान, विद्याभ्यास नहीं आते, क्या इन्हें छोड़ा जा सकता है?"

भागवत पर विवाद करते हुए एक मैथिल पण्डित ने कहा—आप कितना

भी कहें, भागवत के १८ सहस्र श्लोक सदृश श्लोकों की रचना करने में कोई भी विद्वान् समर्थ नहीं है।

महाराज बोले, मैं ऐसे श्लोक ३८ सहस्र बना सकता हूं। मैं बोलता हूं, आप लिखिए।

जूते और खड़ाऊं पर स्वामी जी दो श्लोक ही बोल पाए थे कि वह अर्थश्लेष और पदलालित्य पर इतना विमोहित हुआ कि उसने एकपदे उस कवीश्वर के चरण पकड़ लिये और चिर काल तक भूरि भूरि प्रशंसा करता रहा।

योग दर्शन की 'प्रातिभ' प्रभृति सिद्धियों में भी श्री दयानन्द सरस्वती अच्छे रंगे थे। इन दिनों वे अपने साथ एक रसोइया रखने लगे थे। एक दिन उस के चाचा आए और बोले, "महाराज को भोजन कराने से पूर्व उनके और चौके के मध्य, रेखा खींच लिया करो, जिससे रसोई उच्छिष्ट न हो।" स्वामी जी स्नानार्थ गए हुए थे, आकर वे बाहर ही भोजन मांगने लगे। चाचा भतीजे को महद् आश्चर्य हुआ कि हमारी बातें स्वामी जी कैसे जान गए।

यह पाचक चोर था। इसे हटाकर राजनाथ को रक्खा। वह वेदाध्ययन में भी रुचि रखता था और चार सहस्रमान[1] दूर श्री सोहनलाल के यहां से प्रतिदिन वह दूध और मिश्री लाया करता था। एक दिन लोटने में विलम्ब हो गया। वर्षा हो रही थी वह संत्रस्त तो पहिले से था ही तिस पर मार्ग में अकस्मात् उसने एक सर्प देखा। ज्यों ही पीछे को मुड़ा, वहां भी एक नाग आकर पड़ा था। अब क्या करे ? इधर कुआं, उधर खाई। स्वामी जी की ओर ही जाने का निश्चय कर वह छलांग लगा गया और डरते-डरते स्थान पर आपाया। योगी दयानन्द ने निहारते ही कहा—"क्या तुम्हें सांप मिले थे ? क्या तुम उनसे भय खा गए थे ?"

बाबा आदम के समय का हूं

एक मास निवास कर देव दयानन्द जब मुंगेर जाने को हुए तो भक्त समुदाय ने उन्हें ससम्मान बेगमपुर स्थात्र[2] से संयान[3] पर बैठाया। रात्रि के १२ बजे स्वामी जी जमालपुर सङ्गम[4] पर उतरे और दूसरे संयान की प्रतीक्षा में मञ्च[5] पर घूमने लगे। वास्तुकला शास्त्री एक अंग्रेज पत्नी सहित वहां खड़े थे। महिला कौपीनधारी साधु को देख कर पति देव से बोली, "नंगा घूमना असभ्यता है।" उसने स्थात्रपति[6] से कहा, "इस दिगम्बर सन्त को इधर-उधर फिरने से वर्ज दो।"

१-किलोमीटर, २-स्टेशन, ३-रेलगाड़ी, ४-जङ्क्शन, ५-प्लेटफार्म, ६-स्टेशनमास्टर

स्थात्रपति ने महात्मा से निवेदन किया, "भगवन् ! दूसरी ओर आसन्दी[7] पर विश्राम कर लीजिए। अभी संयान में विलम्ब है।" स्वामी जी ने इस वचन को ताड़ लिया और कहा, अंग्रेज अभियन्ता[8] से कहदो कि दयानन्द उस युग का पुरुष है, जब बाबा आदम और बीबी हव्वा अदन के उद्यान में नगे रहने में लज्जा न करते थे। स्थात्रपति ने अंग्रेज से कहा, "वह कोई भिखारी नहीं है, जिसे मञ्च से निकाल दूं। वह तो निखिल तन्त्र स्वतन्त्रमति दयानन्द हैं, जो आप हम को कुछ भी नहीं समझते।" वास्तु शास्त्री अंग्रेज को तब पता लगा, "अहो! ये वे ही दयानन्द सरस्वती हैं, जिनसे मतमतान्तरवादी थर्राते हैं। ये तो इतने प्रसिद्ध हैं, कि देश भर के समाचार-पत्र इनकी घटनाओं को अपने पत्र में विशेष महत्त्व देते हैं।"

वह तत्काल श्रीचरणों में नतमस्तक हुआ और साभिवादन बोला, बहुत दिनों से दर्शनों को उत्सुक था। आज बहुत सौभाग्यवान् हूं, जो इच्छा की प्यास बुझा पाया।

संयान आने तक वह महाराज से वार्तालाप करता ही रहा।

मुंगेर पहुंचकर स्वामी जी ने उत्तालतरङ्ग गङ्गा के तीर पर एक सुरम्य पुष्पवाटिका में अपना आसन किया। कहार और पाचक साथ थे। जब एक मौनी साधु ने वहां आकर भोजन किया, तो अन्त में महाराज ने उसे कहा, "विद्वान् और मूर्ख दोनों के लिए ही मौन शोभनीय नहीं है। अनपढ़ को दूसरे से लाभ उठाना चाहिए और विद्वान् को दूसरे की बुभुत्सा शान्त करनी चाहिए।" यह सुनते ही उसने बोलना आरम्भ कर दिया।

सिद्धियों से भरपूर दयानन्द ने कहा, "राजनाथ ! इस कहार को जूते लगाओ। यह विना आदेश लकड़ी मांगने क्यों गया ?" जब कहार जूते से पिट रहा था, तो यह भी सोच रहा था कि स्वामी जी को कैसे बोध हुआ कि वह लकड़ी लेने गया था और टाल-स्वामी ने भर्त्सना की तथा लकड़ी भी न दी।"

मुंगेर से दयानन्द सरस्वती भागलपुर आए। वहां एक वैश्य, सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से खाद्य-सामग्री भेजने लगा। पता लगने पर महाराज ने उसका अन्न छोड़ दिया।

एक ब्राह्मण जो ईसाई बना हुआ था, महाराज के उपदेश से बहुत रोया कि उसे यदि यह उपदेश पहिले मिल जाता, तो वह इस नरक में क्यों फंसता ?"

७-कुर्सी, ८-इञ्जीनियर

श्री दयानन्द जी के उपदेशों से धर्म भावना में जागरूक होकर नन्दन ओझा एक भक्त प्रतिदिन थाल परोस कर लाया करते थे। महाराज घूमते हुए एक दिन सायं गङ्गापार मेले में चले गए। नन्दन ओझा ने आहार लाकर यथास्थान रख दिया। यतिप्रवर मेले में क्या देखते हैं कि कुछ मूढ अपनी कन्याएँ पुरोहितों को दान कर रहे हैं। इससे वे अति व्यथित हुए और बहुत विलम्ब से स्थान पर लौटे। देशवासियों की अचेतनता पर उस महापुरुष को ऐसी खिन्नता रही कि उन्हें क्षुधा पीडन का तनिक भी भान न हुआ। प्रातः नन्दन ओझा ने भूखे रहने का कारण पूछा, तो यह मर्मन्तुदा कथा सुनाई।

मास यावत् यहां वैदिक दुन्दुभि बजा श्री दयानन्द सरस्वती कलकत्ता पहुँचे। महाराज की ख्याति सर्वत्र विस्तार पा चुकी थी। वहां पहुँचते ही लोगों का तांता बन्ध गया। ब्राह्मसमाज़ के प्रथित उपदेशक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने जाति भेद पर विचारों का आदान-प्रदान किया। पश्चात् अपनी वाणी का मोड़ वे ईश्वर के साकार और निराकार में ले गए। महाराज द्वारा निराकाररूप औचित्य प्रतिपादन करने पर उन्होंने साङ्ख्य कर्त्ता के ईश्वरवादी होने का समाधान कराया। चक्रवर्ती जी ने ब्रह्मसूत्र के विषय में भी अपनी उलझन मिटा कर यावज्जीवन स्वामी दयानन्द सरस्वती का आभार प्रदर्शित किया है।

श्री दयानन्द जी मध्याह्नोत्तर दो बजे तक किसी से वार्ता न करते थे। चार बजे से मूर्धन्य विद्वान् श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्रसेन, द्विजेन्द्रनाथ, पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति प्रभृति महानुभाव महाराज से सम्भाषण करने आते थे।

श्रोतृजन श्री दयानन्द सरस्वती की सरल संस्कृत पर मुग्ध थे। उन्हें यह भी विस्मय हुआ कि अङ्ग्रेज़ी से अनभिज्ञ श्री स्वामी जी प्रत्येक मत पर कितनी सुन्दर समालोचना कर लेते हैं। स्वामी जी के कलकत्ता में अनेक स्थानों पर व्याख्यान हुए। उनमें उन्होंने यह भी कहा कि जिन संस्कृत विद्यालयों में वेदाध्ययन नहीं है वे वृथा हैं।

श्री केशवचन्द्रसेन ने स्वयं महाराज से पूछा, "क्या आप कभी केशवचन्द्रसेन से भी मिले हैं ?" योगिराज ने कहा, "हां, मिला हूं, आप ही तो उस नाम को विभूषित करते हैं।" एक प्रश्न के प्रतिवचन में स्वामी जी बोले, "वेद ही मानव के लिए मन्तव्य है।" एक संवाद पर देशानुरागी उस दयानन्द ने कहा, "दुःख है कि आप संस्कृत नहीं जानते और विदेशी भाषा में लोगों को समझाते हैं, जिसे वे नहीं समझते।"

पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति ने ७० प्रश्न अपनी दृष्टि से ऐसे चुने थे कि इनका उत्तर किसी से न बनेगा; पर जब स्वामी जी ने २३,२४ उत्तरों में ही सब का समाधान कर दिया, तो वे बहुत आभारी हुए। इस सत्य के स्वीकरण पर महाराज ने भी विपुल प्रेम से उनकी प्रशंसा की।

स्वामी जी महाराज की आकृति इतनी मोहिनी थी कि लोग उसे निहारते न थकते थे। आंखों में आकर्षक ज्योति विद्यमान था। उनकी उन्नत नासिका एक टक देखने का केन्द्र थी। भ्रू पंक्ति और आयत ललाट विचित्र सौन्दर्य बखेरते थे। शरीर वज्रमय, लावण्यपूर्ण था। हाथ घुटनों तक लटकते थे। पतला उदर और विराट् वक्षस्स्थल व्यायाम करने और योगी होने का परिचायक था। हथेलियां आरक्त दीख पड़ती थीं। नखों का अरुणिमा स्वास्थ्य के लक्षण प्रकटाता था। शेष अङ्गों में भी चारुता चित्रित थी। लोगों की धारणा थी कि किसी महान् उद्देश्य के लिए ही ईश्वर ने उन्हें भारत भूमि पर उतारा है।

पश्चात् दिनचर्या में महाराज ने इस प्रकार परिवर्तन किया कि वे बहुत प्रातः उठकर समाधिस्थ हो जाते थे। ९ बजे दर्शकों से मिलते। १२ से १ तक खा-पी कर विश्राम करते और रात्रि के नौ बजे तक आगन्तुकों से निरन्तर वार्तालाप करते थे। बोलते-बोलते प्रतिदिन उनका कण्ठ बैठ जाता था; पर आश्चर्य है कि प्रातः फिर उसी सौष्ठव ध्वनि में मिलते। समता का भाव उनके रोम-रोम में भरा था। राजा महाराजाओं को भी वे सभी के समान समझते थे।

नार्थब्रुक से वार्तालाप

उन दिनों भारत की राजधानी कलकत्ता थी। लार्ड नार्थब्रुक भारत के महाशासक थे। ग्लैडस्टोन ने उन्हें अपने सहायक युद्ध सचिव के पद से मुक्त करके नवीन उपराज (वाइसराय) इस कारण बनाया था कि वे बहुत सचेत और गम्भीर प्रशासक थे। लार्ड नार्थब्रुक श्री दयानन्द सरस्वती का नाम सुन चुके थे। उन्होने स्वामी जी से मिलने का अभिलाष व्यक्त किया और परिणामतः एक दुभाषिए द्वारा निम्न वार्ता हुई।

नार्थब्रुक—मुझे बताया गया है कि आप अन्य धर्मों पर जो कटु आक्षेप करते हैं, उससे हिन्दू और मुसलमानों में आपके प्रति विरोध उत्पन्न हो गया है। क्या आप को यह भय है कि आपके विरोधी आप पर आक्रमण करेंगे? विशेष रूप से मैं यह पूछना चाहता हूं कि क्या आपको हमारे प्रशासन की ओर से किसी प्रकार के संरक्षण की अपेक्षा है?

दयानन्द सरस्वती — मुझे इस राज्य में अपने विश्वास के अनुसार प्रचार करने की पूरी स्वाधीनता है। मुझे अपने ऊपर किसी द्वारा आक्रमण का किसी प्रकार का भय नहीं है।

नार्थब्रुक—पण्डित दयानन्द ! यदि ऐसी बात है, तो क्या आप इस देश को बृटिश शासन द्वारा दिए गए शान्ति और सुख के वरदान सम्बन्ध में अपनी प्रशंसा के कुछ उद्गार प्रकट करेंगे और अपने उपदेशों के साथ की जाने वाली प्रार्थनाओं के समय भारत पर बृटिश शासन की स्थिरता बने रहने की चर्चा करेंगे ?

दयानन्द सरस्वती—मैं किसी भी स्थिति में इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह मेरा दृढ निश्चय है कि मेरे देशवासियों के विकास के लिए और संसार में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष शीघ्र स्वाधीनता प्राप्त करे। मैं प्रतिदिन प्रातः सायं ईश्वर से प्रार्थना करते हुए यह मांगता हूं कि वह दयालु भगवान् मेरे पीडित देश को विदेशी शासन से शीघ्र मुक्त करें।

उपराज नार्थब्रुक ने यहाँ ही वार्ता समाप्त कर दी और अपने भारतीय कार्यालय लन्दन को वार्तालाप का पूर्ण विवरण देते हुए लिखा कि इस विद्रोही फ़क़ीर पर सतर्क दृष्टि रखने की आवश्यकता है।*

स्वामी दयानन्द सरस्वती विशेष प्रयोजन के लिए ही सीधे कलकत्ता गये थे। जब तक स्वदेशीय शासन स्थापित न हो, तब तक वे इस प्रयत्न में भी थे कि भारत का धन उसकी ऐसी उन्नति में भी व्यय हो, जो अन्त में पराधीनता के बन्धन से सदा के लिये उसे मुक्त करदे। उपराज से मिलने का उनका यही अभिप्राय था कि बृटिश प्रशासन की ओर से एक संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित किया

*फंफूंडा निवासी सोमाहुति भार्गव ने आर्य प्रतिनिधि-सभा लाहौर की अर्ध शताब्दी (१३.४.१९३६) पर ऐसे वक्ताओं के व्याख्यान सुने, जिन्होंने ऋषि दयानन्द को देखा था। श्री अलखधारी के व्याख्यान से वे लिखते हैं—"कलकत्ता में जब स्वामी जी पधारे, तो वाइसराय से भी मिले। पूछा गया, कोई कष्ट तो नहीं ? बोले, "राज्य अच्छा है। मुझे हर प्रकार की स्वतन्त्रता, आराम है।" फिर बोला कि आप कह दिया करें राज्य अच्छा है। बोले, मैं प्रशंसा न करूँगा। सन् १८७२ में ऐसा कहा था। हिन्दुस्तान की उन्नति तब होगी, जब भारत में स्वराज्य होगा।

जाय, जिसमें वेद पर्यन्त पढ़ने की व्यवस्था हो, क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा तो अन्ततः उसी राज्य की पोषिका बनेगी।

उपराज नार्थब्रुक के साथ मध्य में ही बात समाप्त हो जाने से स्वामी जी द्वारा अपने अभिप्रेत विषय की चर्चा चलाना व्यर्थ ही था। वार्तालाप ऐसे वातावरण में समाप्त हुआ कि उससे श्री दयानन्द जी के मस्तिष्क द्वारा यह निर्णय कर लेना कठिन न था कि अब से बृटिश शासन की गुप्त दृष्टि उन पर निरन्तर बनी रहेगी। ऐसी अवस्था में जीवन का तार भी कब तोड़ दिया जावे, आशङ्का हो उठी। अपने प्राणों के पश्चात् भी भारतवासी वैदिक पद्धति का अनुसरण करके स्वराज्य प्राप्ति के लिए चेष्टावान् बने रहें, उन्होंने अपनी कार्य प्रणाली का मुख दूसरी ओर मोड़ देने का निश्चय कर लिया। अब वे अपने विचारों को ग्रन्थ बद्ध करने पर कृत निश्चय हो गए तथा वेदों का भाष्य करने के लिए भी मन में गम्भीर भाव स्थिर किए।* शास्त्रार्थ के साथ-साथ व्याख्यान करने की भी धारणा रक्खी।

कलकत्ता से चैत्र शुक्ला ४ संव्वत् १९३० को प्रस्थान कर स्वामी जी हुगली, वर्धमान भागलपुर, पटना, छपरा, आरा, डुमराऊँ, मिरज़ापुर और प्रयाग थोड़ा-थोड़ा ठहरते हुए मार्गशीर्ष में लखनऊ आ विराजे।

पण्डित गङ्गाधर शास्त्री से वाद-विवाद किया। स्थान-स्थान पर उपदेश भी दिये। पश्चात् कानपुर आ, एक दिन ठहर, फर्रुखाबाद अपनी पाठशाला में आ गए।

स्वामी जी के सम्बन्ध में विपरीत प्रचार करके लोगों ने पं० विश्वेश्वरदयाल शास्त्री को भ्रम में डाला हुआ था कि वे तो ईसाइयों के प्रचारक हैं; परन्तु उनकी महाराज से मिलने की उत्कण्ठा बनी हुई थी। जब वे अर्धरात्रि में महाराज के डेरे पर पहुँचे, तो उन्हें ब्रह्म के ध्यान में निमग्न पाया। समाधि-भङ्ग होने पर उन्होंने अपनी शङ्काएँ निवारण कीं और विपरीत मार्गियों की धूर्तता को देख वे उनमें अत्यन्त खिन्नता, घृणा और अनुदारता दिखाने लग गए।

---

* युजर्वेद का भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द ने आरम्भ में ही अर्थात् छठे मन्त्र के भावार्थ में स्पष्ट लिख दिया "मनुष्यों को दो प्रयोजनों से प्रवृत्त होना चाहिए अर्थात् एक तो अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्ती राज्य की लक्ष्मी की प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़ के उनका सर्वत्र प्रचार करना।"

गो संरक्षण

गो-संरक्षण की ओर स्वामी जी ने लाट मेयोर महोदय और शिक्षा विभाग के अध्यक्ष कैम्पसन का ध्यान आकृष्ट किया। लाट महोदय से कहा—"आप स्वदेश जा रहे हैं, वहां भारतीय परिषत् में 'गो हत्या निरोध' प्रश्न को मुखरित कीजिएगा।

पौष कृष्णा षष्ठी को कासगञ्ज पधार कर पाठशाला का निरीक्षण किया। पश्चात् छलेसर पाठशाला की व्यवस्था भी देखी। वहां से २०, २५ अश्वारोहियों के साथ पौष शुक्ला सप्तमी को अलीगढ़ आकर अचल तालाब पर ठहरे।

एक दिन भूतल पर आसीन श्री दयानन्द जी श्रोतृवृन्द को उपदेश कर रहे थे। अकस्मात् एक पण्डित उच्च स्थान पर बैठ महाराज से शास्त्रचर्चा करने लगा। लोगों ने ऊंचे बैठने में आपत्ति उठाई, तो महाराज बोले, "ऊँचे नीचे बैठने से कोई बड़ा छोटा नहीं होता, देखो वह कव्वा इससे भी ऊपर बैठा है।"

एक दिन छावली निवासी ठाकुर ऊधोसिंह अपने पिता के साथ श्रीचरणों में पधारे। महाराज ने उन्हें विचित्र चित्रित विदेशी वस्त्रों में देखकर कहा, "ऊधव! वस्त्र पहरने में भी अपने पिता जैसे मोटे स्वदेशीय वस्त्रों का अनुकरण करोगे, तो तुम्हारी ख्याति और सम्मान सर्वत्र इन्हीं सरीखा बना रहेगा।" ऊधव ने महाराज के इस दुर्निवार आदेश को घर पहुँचकर क्रियान्वित कर दिया।

महाराज के समीप पत्र भी बहुत आते थे। उनके उत्तर लिखाने का समय भी नियत था। उसी समय सर सय्यद अहमद खां दर्शनार्थ आए। वे खिड़की से उस धर्मप्रचारक को अति व्यस्त देखकर विरामदे में बैठ गए। महाराज ने उन्हें भीतर बुलाकर कहा, "आप सुखपूर्वक बैठिए, मैं पत्रों से निवृत्त होकर निश्चिन्तता-पूर्वक वार्ता करूँगा।"

उदारधी श्री दयानन्द की विचारसरणी से चन्द्रकान्त मणि के तुल्य द्रवित होकर सय्यद महोदय अन्य प्रतिष्ठित अंग्रेजों तथा मुसलमानों को भी श्रीसेवा में लाने लगे। एक दिन पूछा, 'भगवन्! थोड़े हवन से वायु का शोधन कैसे होता है?"

"आपके यहां पचास साठ व्यक्तियों के लिए छह सात सेर दाल को एक माशा हींग जैसे सुवासित कर देता है; महाराज ने उत्तर देते हुए कहा। वैसे ही अग्नि हुतद्रव्य को सूक्ष्म कर वायु मे प्रसारित कर देता है।"

इस उचित दृष्टान्त से सभी लोग मुख पर प्रसन्नता ले आए।

व्याख्यान के समय तो अपार भीड़ हो जाती थी। पर अनोखे थे वे, जिन का कण्ठरव पीछे से पीछे व्यक्ति को भी स्पष्ट सुनाने की क्षमता रखता था। वे ईश्वरीय अपने वचनों को जब वीर रस का पुट देते, तो आवेश की ऊष्मा से भुजाएँ फड़क उठतीं। जब उनमें हास्य रस भरते, तो हंसते-हंसते पेट दुःखने लगते और ज्योंही भारत की दुर्दशा का चित्र खींचते, तो करुणा रस में आंखें डबडबा जाती थीं।

माघ शुक्ला पञ्चमी को आचार्य दयानन्द ने हाथरस पधार कर अपने व्याख्यानों मे ब्राह्मणों में हलचल मचा दी। "नीति प्रकाश" पत्र में कन्हैयालाल अलखधारी ने लिखा, "स्वामी जी के व्याख्यान के प्रभाव से जब ब्राह्मणों के जाल से चिड़ियां उड़ने लगीं, तो उन्हें अपनी रोटियां छिनती दीख पड़ीं" आगे लिखा, "शोक है स्वार्थी लोग पशु से मनुष्य नहीं बनने देते; प्रत्युत मनुष्य को पशु बनाने की चेष्टा करते हैं।"

मूर्ति पूजा के केन्द्र वृन्दावन में चैत्र वदी द्वितीया से मेला होना था। वहां रङ्गाचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त कर देने से ही लोगों को मुक्ति सोपान पर आरोहण का अवसर मिलेगा, इस धारणा से दिग्विजेता दयानन्द फाल्गुन शुक्ला एकादशी को ही वहां जा बैठे और अपना आसन ठीक रङ्गाचार्य के आवास के पीछे लगाया। स्थान-स्थान पर विज्ञापन चिपकवा दिए। रङ्गाचार्य को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा किन्तु उसने यह कहकर टाल दिया कि अभी मेले में अवकाश नहीं है, इसके पश्चात् शास्त्र की बातें करूँगा। महाराज उसकी प्रतीक्षा करनेवाले न थे। वे अपनी ओर से ही धर्ममेघ बनकर बरसते रहे। रङ्गाचार्य ने जब देखा कि स्वामी जी तो मेला हो चुकने पर भी मेरी ही ताक में यहीं टिके हुए हैं, वह भय के कारण रुग्ण होगया। आचार्य दयानन्द चले आए और वह अपने उसी आतङ्क में कुछ ही दिनों के उपरान्त शरीर छोड़ चला।

वहाँ से मथुरा आकर जब श्री आचार्यपाद मूर्ति पूजा की आलोचना कर रहे थे, तो दो उच्छृङ्खल व्यक्तियों ने व्याख्यान के मध्य में ही महाराज से कहा, "हमारे मद्य और मांस के दाम तो दे दीजिए।" स्वामी जी हंसते हुए बोले, "इस सम्मेलन की समाप्ति पर सब लेखा चुकता कर दूंगा।" अपने कथनानुसार उन्होंने दोनों की गर्दन पकड़ी और गरज कर बोले, "तुम्हारे शिर से ही ये गन्दी बातें निकलती हैं। दोनों की टक्कर से अभी दाम चुकते हो जायेंगे।" इस पर वे क्षमा याचना करने लगे। दयावतार दयानन्द को उन पर तरस आ गया।

वहां उनसे तर्क करने तो कोई न आया; पर चार-पांच सौ पण्डे मोटे-मोटे सोटे लेकर उनके निवास स्थान पर आधमके। वहां विद्यमान श्री कृष्णसिंह जी आदि ने शीघ्र द्वार बन्ध कर दिए। इस पर वे बहुत देर तक निन्दित घोष लगाते हुए लठों से भूमी पीटते रहे और यतिवर्य छत पर चढ़कर हंसते रहे। महाराज के भक्त उनसे दो-दो हाथ करने को कटिबद्ध भी हुए; पर सहिष्णु दयानन्द ने रोक दिया और कहा, "अब तक मूर्ति पूजा से ये आलसी पड़े थे, कुछ उत्तजना तो हुई, यह ही पर्याप्त फल है।"

चैत्र शुक्ला द्वितीया सँव्वत् १९३१ को दयानन्द सरस्वती मुरसान के राजा टीकमसिंह की बग्घी पर आरुढ होकर उनके यहां पहुंचे। स्वामी जी के पर्यलिन्द पर एक दिन ठाकुर गुरुप्रसाद भारी भीड़ के साथ अपनी विद्या की डीग मारते हुए आए; पर उन्हें दयानन्द केसरी के अभिमुख होने का साहस ही न हुआ।

यहां पर्याप्त ठहरे और ज्येष्ठ में काशी पहुंचे। अपनी पाठशाला की सार-संभार की। जनता के अधिक हित को ध्यान में रखते हुए अब स्वामी जी ने अपने भाषण हिन्दी में करने प्रारम्भ कर दिए।

सत्यार्थप्रकाश का लेखन

राजा जयकृष्णदास ने उन्हें चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रिय लेखक दिया। स्वामी जी बोलते चलते और वह लिखता रहता। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश का लेखन प्रथम आषाढ कृष्णा एकादशी वैक्रमाब्द १९३१ को आरम्भ हो गया। राजनीति के चतुरखिलाड़ी श्री दयानन्द ने उस संस्करण में यह भी उल्लेख कराया कि वृटिश शासन ने नमक और वन को अपने हस्तान्तरित करके निर्धन जनों को बहुत हानि पहुँचाई है।*

काशी से मिरजापुर पधारे। वहां काशीनाथ शास्त्री ने पूछा, "आपने किस प्रयोजन के लिए देश भर में कोलाहल मचा रक्खा है ?"

"पन्थाई पण्डितों ने लोगों को भ्रम जाल में जकड़ दिया है, उनकी मेधा को जड़ बनाकर सत्यासत्य विवेचन से शून्य कर दिया है" स्वामी जी ने उत्तर में आगे कहा, "मैं उन्हें इस जड़ता से उबार लेना चाहता हूं।"

---

*महात्मा गान्धी ने इसके ५५ वर्ष पश्चात् नमक अधिनियम का भङ्ग किया था। सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण सन् १८७५ में स्टार प्रैस काशी में छपा था।

द्वितीय आषाढ कृष्णा द्वितीया को स्वामी दयानन्द प्रयाग पहुंचे। भक्त ठाकुर प्रसाद अति श्रद्धा भरे मन से नंगे पग तपतपाती सिकता में महाराज का भोजन पहुंचाते थे। महाराज ने उन्हें कहा, "जूता पहरकर भोज्य पदार्थों के उठाने का शास्त्र में कहीं निषेध नहीं है। आप इस बखेड़े को छोड दीजिए।"

दिव्य दयानन्द का मुखमण्डल तो सदा ही दर्शनीय था; पर समाधि दशा में ब्रह्म के सान्निध्य से कितना भेद हो जाता है? भक्त ठाकुरदास यह देखने के परम अभिलाषी थे। उन्होने एक दिन किवाड़ों के छिद्रों से देखा कि वे बद्ध पद्मासन में भूतल से ऊपर उठे हुए हैं और मुखाकृति बालसूर्य सरीखी लाल है।

ब्राह्म ध्यान से उठकर एक दिन दयानन्द ने हंसते हुए कहा, "एक ब्राह्मण मेरे लिये मिष्टान्न लेकर चला आ रहा है, जब वह यहां आ जायेगा, तो आप सब एक बड़ा कुतूहल देखेंगे।"

दस बारह मिनट में ही वह आ पहुँचा। अभिवादन करके बोला, "भगवन्! थोड़ा-सा मिष्टान्न है, भोग लगाइये।"

"लो, तनिक-सा तुम भी ले लो।" महाराज के यह कहने पर जब उसने आगे हाथ न किया, तो वे फिर बोले, 'क्या बात है? क्यों नहीं लेते?" उसके थर-थर कांपने पर उन्होंने फिर कहा, "यह इसमें विष मिलाकर लाया है।" भक्तों की आंखें चढ़ गयीं और अन्धेरे छा गये। महाराज आगे बोले, "बस इतना ही दण्ड इसे पर्याप्त है कि यह जूझ रहा है।"

गङ्गातटवासी एक वृद्ध महात्मा ने आचार्य दयानन्द से कहा, "बच्चा! इस लोक-हित के झगड़े में न पड़ते, तो तुम्हारी मुक्ति इसी जन्म में हो जाती।"

"महात्मन्!" दयानन्द बोले, "भारत के इन दीन दरिद्रों को दुःखी देखकर मुझे अपने मोक्ष की चिन्ता नहीं है।"

आमन्त्रण पर श्री दयानन्द जी जबलपुर गये। महाशय कृष्णराव जी ने उनका रूपित्र (फोटो) लिया। कुछ दिन पश्चात् वे नासिक पहुँचे। "इन्दुप्रकाश" पत्रिका ने लिखा, दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों में वेद, दर्शन और धर्म ग्रन्थों के प्रकरण एक लड़ी-सी बनाते प्रतीत होते हैं। इसी कारण उनसे शास्त्रार्थ करने को कोई उद्यत नहीं होता।"

सँव्वत् १९३१ कार्तिक कृष्णा प्रतिपत् को सकलतन्त्रमति दयानन्द के शुभागमन से बम्बई जगमगा उठी। अनेक भद्र पुरुष महाराज को संयान स्थान (रेलवे स्टेशन) से वहां के सुरम्य स्थान बालुकेश्वर पर ले गए। दूसरे दिन ही

व्याख्यान और शास्त्रार्थ के लिये विज्ञापन लगवा दिए । पञ्च यज्ञ महाविधि का छपवाना भी आरम्भ कर दिया । व्याख्यानों के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों ने निवेदन किया कि अन्य मतों को छोड़कर केवल वल्लभ मत को ही वाक्चक्र पर चढ़ाया जाय । महाराज ने इस कथन में पक्षपात की वासना देख, सभी मतों की पोल खोलनी प्रारम्भ कर दी । इससे श्री दयानन्द के वध का षड्यन्त्र रचा जाने लगा । वैष्णव मत के खण्डन से रुष्ट जीवन गोसाईं ने आचार्य दयानन्द के सेवक बलदेव को एक सहस्र मुद्रा का प्रलोभन देकर विष द्वारा हत्या कर देने की योजना बनाली । पांच सहस्र धान्य (किलोग्राम) मिष्टान्न तथा पांच रुपये उसी समय बलदेव को भेंट किए । अन्तर्दर्शी दयानन्द ने आते ही उससे पूछा, "गोसाईं जी से आज क्या-क्या निश्चय करके आए हो ।" सरल हृदय से सब कुछ निवेदन करने पर महाराज बोले, "जिसका जब तक ईश्वर रक्षक है, उसे कोई नहीं मार सकता । तुम्हारे इस प्रयत्न से भी मैं नहीं मरूँगा ।" बलदेव ने क्षमा याचना की और विश्वास दिलाया कि आगे से ऐसी बातों पर कान नहीं धरूँगा ।

स्वामी जी के लिए पल, पल पर सङ्कट उपस्थित था । एक दिन दो बलिष्ठ मनुष्य रात्रि में चुप-चाप चोट करने आ पहुचे । देशनायक दयानन्द ने दहाड़ कर पूछा, 'तुम कौन हो ?" वे तो इतने से ही पहचाने गए चोर की भांति उलटे पैर भाग उठे ।

जीवन गोसाईं ने पुनः चार व्यक्तियों को लोभ देकर उकसाया । वे भ्रमण के समय महाराज का पीछा करने लगे । उन्होंने मुड़कर पूछा, "क्या तुम मेरा हनन करना चाहते हो ?" इतना सुनना था कि वे कांपते हुए अपना सर्वथा साहस ही खो बैठे ।

वल्लभ सम्प्रदाय की तीव्र आलोचना होने पर वेचर शास्त्री को टक्कर लेने के लिए नियत किया गया । समय रात्रि का था । उत्ताप प्रावार वा दीप (पैट्रोमैक्स) जल रहे थे । प्रश्नोत्तर थोड़े ही काल चले थे कि सभा में हल्ला-गुल्ला होकर लाठी चल पड़ी । प्रबन्धक ने उत्ताप प्रावार वा दीप बुझा दिए और अन्धेरे ने शान्ति बिछा दी । ऐसी दशा में महाराज को गाड़ी में बैठाकर बालुकेश्वर पहुंचा दिया गया ।

चौथे दिन पुनः निर्भीक संन्यासी ने उसी स्थान पर 'आर्यों का इतिहास' इस विषय की व्याख्या की ।

श्री कृष्णराम इच्छाराम अद्वैतवादी थे। दूरदर्शी श्री दयानन्द जी ने उनसे "वेदान्तिध्वान्तनिवारण" पुस्तक लिखाना आरम्भ किया। दो दिन में ही पुस्तक समाप्ति के साथ-साथ श्री कृष्णराम इच्छाराम गुजराती भी द्वैतवादी बन गए।

यहीं से ऋग्वेद भाष्य के प्रथम मन्त्र का अर्थ लिखाकर महाराज ने सम्मत्यर्थ अनेक विद्वानों के समीप भेजा।

एक दिन श्री कृष्णराम इच्छाराम से महाराज बोले, "तुम्हारे स्थान पर जो लेखक पहिले रहते थे, उन्होंने रसोई निमित्त सात गुणा सामग्री हमारे मारवाड़ी सेवक सेठ नथमल पोद्दार के प्रबन्ध से मिलने वाली दुकान से लेकर बेच दी थी और रुपये बना लिए थे। इस कारण उन्हें निकाल दिया। दान का अन्न खाने से ब्राह्मणों के मन दूषित होगए हैं, वे ऐसे घृणित कर्मों में लज्जा अनुभव नहीं करते। फर्रुखाबाद की पाठशाला भी ऐसे ही कुछ कारणों से मैं ने तोड़ दी थी।"

आर्यसमाज का नामकरण

बम्बई नगरवासी असङ्ख्यक लोग मूर्तिपूजा के बखेड़े से छूटकर निराकार ब्रह्म की उपासना करने लगे थे। वे मार्गशीर्ष संवत् १९३१ को एकत्रित होकर श्रीचरणों में उपस्थित हुए और हाथ जोड़कर प्राञ्जलभाषा में बोले, "भगवन्! हम सबका विचार है कि प्रतिदिन एक स्थान पर इकट्ठे होकर पारस्परिक धर्म-चर्चा से चित्तमलों को क्षालित किया करें। इस कारण इस सङ्गठन का नामकरण श्री मुख से हो जाना प्रीतिदायक होगा।"

सत्सङ्गियों के इन वाक्यों से महाराज के अन्तःकरण में हर्षोद्रेक दीख पड़ा। और कुछ क्षण ब्रह्मनिष्ठ हो वे बोले, "इस सत्सङ्ग का पवित्र नाम 'आर्यसमाज' ही रखना प्रेरणाप्रद है।"

इस सङ्कल्प की पूर्ति तत्काल न हो सकी; क्योंकि बिना आधार के भित्ति खड़ी करना आशङ्का रहित नहीं था। वेद भाष्य में तो अभी बहुत देर थी। सत्यार्थप्रकाश भी मुद्रणालय में प्रकाशित हो रहा था।

महाराज ने बम्बई में वल्लभाचार्य मत खण्डन, स्वामी नारायण मत खण्डन, वेदान्तिध्वान्त निवारण पुस्तिकाएँ प्रकाशित करा दीं। संस्कारविधि का लेखन प्रारम्भ किया हुआ था ही।

मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी को पर्यटक श्री दयानन्द जी सूरत पधारे। वल्लभाचार्य राममोहन राय, स्वामी नारायण मत के प्रवर्तक सहजानन्द और रामानुजा-

चार्य विषयों पर व्याख्यान हिन्दी में हुआ। व्याख्यानावसान में शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देने पर भी कोई न आया। दूसरी वक्तृता जिनोक्त, पुराणोक्त, तन्त्रोक्त धर्म पर हुई। इसी प्रकार दो उपदेश और हुए। चौथे व्याख्यान में साम्प्रदायिक-जनों के घोर विरोध स्वरूप ईंटों की वृष्टि होने लगी। अन्धकार भी हो चला था; अतः सभा विसर्जित कर दी गयी।

सूरत से प्रस्थित हो श्री दयानन्द जी भड़ौंच पहुंचे। माधवराय त्र्यम्बक एक दाक्षिणात्य पण्डित अपने शिष्य मण्डल सहित शास्त्र-चर्चा के निमित्त आगे आया। वह वेदादि के सम्बन्ध में कोरा था। चेले-समुदाय में उसने अपना अपमान होता देख महाराज को कुछ अपशब्द कहे। महाराज के समर्थक कुछ सैनिकों ने इस दुर्व्यवहार पर कुछ करना चाहा; पर उन्होंने ऐसा होने न दिया। बलदेव सेवक भी रक्तेक्षण हुआ लपका। स्वामी जी ने वर्जते हुए उसे कहा, "धर्मोपदेश ही हमारे लिए शोभाजनक है, शस्त्रोपदेश नहीं।"

भड़ौंच का स्थात्रपति भी वहां आया हुवा था। वह पारसी से रोमन कैथॉलिक बन गया था। उसने कहा, "कल मैं अपने व्याख्यान में मूर्तिपूजा की स्थापना करूंगा, स्वामी जी भी अवश्य सुनें।" महाराज सब श्रोताओं के समान वहां जाकर सुन आए और पीछे अपनी कलात्मक व्याख्या में उसकी उक्तियों को पत्थर से पीसे गए पदार्थ के समान रगड़ दिया।

जेठालाल अधिवक्ता के यह कहने पर कि यदि आप शास्त्रों द्वारा प्रतिमा पूजन की स्थापना करने लगें, तो हम आपको शङ्कर का अवतार मानकर आपकी पूजा करें। महाराज ने कहा, "काशी नरेश ने भी विश्वनाथ की पदवी का लोभ दिखाया था परन्तु वे प्रलोभन मुझे सत्य-प्रतिपादन से रञ्च मात्र भी नहीं विचलित कर सकते।

पं० कृष्णराम इच्छाराम के ज्वरग्रस्त होने पर श्री दयानन्द जी उनका शिर दबाने लगे, तो उसे लजा आई। वे बोले, "ऐसे अवसरों पर बड़े सेवा करके छोटों में सेवा वृत्ति को जन्म देते हैं; अतः यह उचित ही है।"

एक दिन ठाकुर उमरावसिंह स्वामी जी को गुरु बनाकर मन्त्र लेना चाहते थे। महाराज बोले, "मन्त्र तो वेदों में हैं, वे कैसे दिये जायें। हम किसी के कन-फुकवा गुरु नहीं बनते। जो हमारे कार्य में सहाय हो अथवा हमारे मन्तव्यों को स्वीकार कर आचरण करे, वह ही हमारा शिष्य है।

भड़ौंच से प्रस्थान कर आर्षज्योतिर्दयानन्द ने अहमदाबाद को आलोकित किया। विज्ञापन देकर वहां शास्त्री कहे जानेवाले ३० व्यक्ति शास्त्र समर में बुलाए। शास्त्रार्थ का विषय निम्न दो मन्त्रों पर आधारित रक्खा—

आकृष्णेन रजसा———और या ते शिवा तनूः———

आमन्त्रित शास्त्रवेत्ता तो न आए। अन्य पुराण पण्डितों ने मुख दिखाया। उनके सम्मुख दयानन्द सरस्वती ने इन मन्त्रों के यौगिक प्रक्रिया से ऐसे अर्थ किए जो उन्होंने कभी सुने भी न थे; फिर भी शिर से बला टालने के लिये उन्होंने अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि में कुछ युक्तियां दीं; किन्तु दयानन्द के तर्कशर से वे कच्चे धागे की न्याईं खण्ड-खण्ड हो गईं। तब सुधारवादी सभासदों ने विद्यानिधि दयानन्द को उच्च पीठिका पर आसीन किया। फूलमाला पहराई और पुष्पवर्षा के अभिनय से उनके विजय को दिग् दिगन्त में फैलाया। पश्चात् श्री दयानन्द जी ने मनोहर उपदेश करके मानवोचित कर्म की विचारणा से सभाजनों को अलङ्कृत किया। "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः" गीता के इस श्लोक पर उन्होंने कहा, "यहां धर्म का अर्थ सम्प्रदाय नहीं है। मैं सम्प्रदायों को मिटाना चाहता हूं, धर्म नहीं छुड़ाना चाहता।"

अहमदाबाद में भगवान् दयानन्द का एक दिन व्याख्यान होता था। दूसरे दिन उन्हीं के निवास केन्द्र पर तद्विषयक शङ्का समाधान होता था। वहां उन्होंने अपने उपदेशों में हिन्दू मान्यताओं की हृदयग्राहिणी व्याख्या की। जातिभेद और बालविवाह की तीक्ष्ण समीक्षा की खान-पान, तीर्थ-स्थान और व्रतोपवासों पर तीव्र प्रहार किया।

यहां से निवृत्त हो दयानन्द सरस्वती राजकोट में विराजमान हुए। वहां ईश्वर धर्मोदय, वेदों का अनादित्व और अपौरुषेयत्व, पुनर्जन्म, विद्या-अविद्या, मुक्ति ओर बन्ध, आर्यों का इतिहास और कर्त्तव्य की एक-एक दिन व्याख्या की। बीच-बीच का दिन शङ्का समाधान के लिए रक्खा जाता था।

एक दिन पण्डित महीधर और जीवनराम शास्त्र स्थल में अद्वैतवाद पर अग्रसर हुये। महाराज ने कहा, "यदि तुम ब्रह्म हो तो अपने शरीर के साढ़े तीन करोड़ लोमों में से एक उखाड़ो और फिर वहीं आरोप करके दिखाओ। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो सर्वज्ञ ब्रह्म का आसन अपने लिये क्यों बिछाते हो।"

इतना सुनने पर वे तो ऐसे घबराये कि शास्त्रार्थ के लिये जो कुछ सामग्री बटोर कर लाए थे, वह भी अपने पक्ष की पुष्टि में प्रस्तुत न कर सके।

राजकुमारों के महाविद्यालय में महाराज ने 'अहिंसा परमो धर्मः' विषय पर वक्तव्य दिया और मांसाहार को सर्वथा अमेध्य ठहराया।

यतिदिवाकर श्री दयानन्द के प्रवचनों से राजकोट में घोर आन्दोलन उठ खड़ा हुआ तथा प्रार्थना समाज के बहुत-से सदस्य वैदिक मन्तव्यों की ओर झुक पड़े।

इन दिनों स्वामी जी के साथ ग्रन्थ, लेखक और सेवक सभी रहते थे। एक दूसरे स्थान पर सकल सामग्री भाड़े की गाड़ी पर ले जाई जाती थी।

राजकोट से स्वामी जी २१ सहस्रमान दूर चोटिला पहुंचे। धर्मशाला में रातभर ठहर थानाधिकारी से वार्तालाप किया। पश्चात् बड़ोयान होते हुए पूर्णमासी को अहमदाबाद पहुंचे। यहां भारतीय इतिहास के अद्वितीय व्याख्याता श्री दयानन्द जी की व्याख्यानमाला और शास्त्रार्थ की पीठ के पीछे राजनीतिक भावनाएँ प्रबल थीं। उन्होंने निर्देश किया, "ब्राह्मणों के स्वार्थ से आर्यों में पारस्परिक भेद हो गया है। जब वेद के अनुसार एक मत था और सिकन्दर आया था तो अकेले एक मनुष्य ने ही उसे द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारा। सोमनाथ पर आक्रमण करने वाले महमूद और उसकी सेना को एक पुरुष सुगम मार्ग दिखाने के मिष से सिन्ध की मरुभूमि में ले गया। जहां उसके अनेक सैनिक प्राण छोड़ गये और वह भी तृषाकुल बना जीवन-मरण की सान्ध्य सीमा पर आ खड़ा हुआ।"

अहमदाबाद में वैदिक नाद गुंजा, परिव्राजक दयानन्द बड़ौदा न जाकर बलसाड पहुंचे। बड़ौदा में उन दिनों सेना का गमनागमन बहुत था; क्योंकि बृटिश शासन ने मल्हारराव को राजसिंहासन से अपदस्थ कर दिया था। बलसाड में महाराज का मुसलमान और पारसियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

॥ काशीकण्डिका समाप्त ॥

सङ्घटन काण्डिका

आर्यसमाज की स्थापना

बलसाड़ से बसई होते हुए दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आसन लगाया। वहां आर्यसमाज की स्थापना के लिए नागरिकों में प्राण फूंके और तब सर्वसम्मति से आर्यसमाज की स्थापना कर दी गयी। इस कार्य-क्रम ने जिस दिन को गौरव प्रदान किया, वह था—वैक्रमाब्द १९३२ चैत्र शुक्ला पञ्चमी शनिवार, शाली-वाहन शकाब्द १७९७, ईसवी सन् १८७५ अप्रैल १०, सायङ्काल साढ़े पांच बजे। स्थान था—गिरगांव रथ्या में चिकित्सक माणिकचन्द्र जी की वाटिका।

उसी समय एक सभा का आयोजन किया गया, जिस में सबकी इच्छा से नियुक्त राजमान्य राजेश्वर पानाचन्द्र आनन्द जी पारीख ने आर्यसमाज के २८ नियम बनाए। आर्यसमाज के संस्थापक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सभा पटल पर आने से पूर्व ही उन नियमों का अनुमोदन कर दिया था। सदस्यों की सङ्ख्या सौ थी। सबने मिलकर नियमों के अनुसार प्रधान आदि का निर्वाचन कर लिया।

इन्हीं दिनों बम्बई में महाराणी विकटोरिया के ज्येष्ठ पुत्र (भावी एडवर्ड सप्तम) के स्वागतार्थ, उपराज नार्थब्रुक कलकत्ते से आए। वहां पर हुई परस्पर की वार्ता का सम्पूर्ण दृश्य महाराज के सम्मुख नाच उठा। अतः पारस्परिक भेंट का प्रसङ्ग उठने पर यति दयानन्द ने कहा, "हम संन्यासी हैं, उनसे मिलने नहीं जायेंगे और वे भी मिलने यहां नहीं आएंगे।"

आषाढ के कृष्ण पक्ष में आदित्य ब्रह्मचारी श्री दयानन्द, पूना में आविर्भूत हुए। महादेव गोविन्द रानाडे वहां के न्यायाधीश थे, जिन्होंने पूना में हुए महाराज के व्याख्यानों को छपवा दिया, जो अब 'उपदेश मञ्जरी' के नाम से सर्वविदित हैं।

अपार सहिष्णु

जब भगवान् दयानन्द ने 'सातारा' के लिए प्रस्थान करने की इच्छा व्यक्त की तो उनके सम्मान में संयात्रा का प्रबन्ध किया गया। एक हाथी सजाया; पर महाराज ने उसपर बैठना स्वीकार न किया। उस शोभायात्रा का क्रम यह था—पहले हाथी, फिर कोतल घोड़े, आरक्षिदल, अंग्रेज़ी वाद्य, श्री दयानन्द सरस्वती, भक्त समूह और अन्य जन। ४०० व्यक्तियों से प्रारम्भ करके वह पङ्क्ति नगर में पहुंचकर तीन-चार सहस्र की सङ्ख्या में लम्बी लार बन गयी।

विपक्षियों ने ईर्ष्या में आकर विरोध प्रदर्शन करने के लिए 'गर्दभयात्रा' निकाली। मार्ग में दोनों समुदायों की भेंट हो गयी। प्रतियोगियों ने श्री दयानन्द जी की कटती में समाघोष लगाए। उस समय ब्राह्मणों की माननेवाले आरक्षियों ने केवल दो निर्धन ब्राह्मणों का प्रग्रहण किया। इस पर उत्पातियों ने उत्ताप प्रावार वा दीप बुझा दिए और अंधेरा होते ही देशोद्धारक श्री दयानन्द पर गोबर, धूल, कीचड़ तथा साथ चलनेवाले सदस्यों पर भी ईंट-पत्थर, कीचड़ की बोछाड़ होने लगी। जिसमें आरक्षी-अधिकारी, निरीक्षक और आरक्षिपुरुष भी चोट खा बैठे। कुछ आघातों से गर्दभ दल भी चींख उठा। उस चोट-फेंट में समारोह यात्रा व्याख्यान के स्थान 'भिड़े के बाड़े' पर आ चुकी थी। महाराज को वहां सुरक्षित कर दिया गया। विद्रोह शान्त हो जाने पर भाषण आरम्भ हो गया। स्थिरमति दयानन्द सर्वथा धीर, गम्भीर, प्रशान्त हुए स्पष्ट एवं मधुर वाणी में बोलते जा रहे थे। एकबार भी उपद्रव के सम्बन्ध में उन्होंने झांकी न डाली। तपस्विप्रवर की इस अप्रतिम सहिष्णुता को देख, जनता ने उनके चरणों में श्रद्धा-सुमन बिछा दिए। न्यायाधीश ने प्रगृहीत दो व्यक्तियों को अभियोग चलाकर कारा में भेज दिया। ५००, ५०० रुपये उनपर दण्ड भी किया। दण्डाधिकारी ने आरक्षी पर आरोप लगाया कि उसने उत्पाती नेताओं को निगडित न करके अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है।

व्याख्यान के अवसान पर अनेक प्रतिष्ठित मनुष्यों ने भगवान् दयानन्द को समादृत करते हुए कहा, "प्रभो! आज आपने अपना नाम 'दयानन्द' सार्थक कर दिया है। उपहार में भक्तों ने स्वामी जी को २५० रुपये वेद भाष्य के लिए दिए। दूसरे रूप से भेंट स्वीकार करने में महाराज की अभिरुचि न थी; क्योंकि वे उसे पौराणिकों सरीखी नैवेद्य प्रणाली समझते थे।

ट्रैने आरक्षिनिरीक्षक ने महाराज से निवेदन किया "आज आप यहीं शयन करें, बाहर जाने से आक्रमण की आशङ्का है।" निश्चित सङ्कल्प और निर्भीकता से महाराज बोले, "हम तो अपने डेरे पर ही जायेंगे, यह तो आपका कर्त्तव्य है कि प्रजा को नियन्त्रण में लावें।" इस कथन पर आरक्षी-दल ने महाराज को उनके स्थान पर पहुँचा दिया।

सातारा में आकर श्री दयानन्द वाग्मी ने केवल शास्त्र-चर्चा द्वारा ही लोगों में धर्म-सञ्चार किया।

यहां से पूना लौटकर बम्बई पहुँचे। उस दिन आर्यों का नया वर्ष आरम्भ था, जो गुजरात में कार्तिक शुक्ला प्रतिपत् को होता है। महाराज ने उस दिन इसी विषय की व्याख्या की।

बड़ौदा में हलचल

कुछ काल बम्बई में अतिवाहित करके दयानन्द सरस्वती ने बड़ौदा नगर को शोभा प्रदान की। संयान स्थात्र (रेलवे स्टेशन) के सम्मुख धर्मशाला में आसन किया। शेष प्रबन्ध राजाधिराज बड़ौदा की ओर से हो गया। शीत ऋतु के इस पौष मास में यतिराज ओढ़ने के लिए केवल एक चादर ही लेते थे। राज्य की ओर से दो आरक्षी (पुलिस) भी नियुक्त थे।

स्वामी जी व्याख्यान कर रहे थे कि "यथेमां वाचं कल्याणीम्" मन्त्र उच्चारण करने पर अविदग्ध पण्डितों ने कोलाहल मचा दिया, जिससे मुसलमान और शूद्र लोग मन्त्रों को न सुन सकें। उत्पातियों ने व्याख्यान न होने दिया और शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध हो गए। शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ। एक पण्डित ने आक्षेप किया, "आज दाक्षिणात्यों से पल्ला पड़ा है, भवति-पचति साधारण संस्कृत से कार्य न चलेगा। यह सुनते ही यतिमणि ने समास बाहुल्य का ऐसा प्रयोग किया कि वे एक दूसरे को ताकते रह गये। उन्हें कुछ न समझ पड़ा। फिर सरस्वती जी ने सरल भाषा में 'भू' धातु के लिङ् लकार का प्रयोग कैसे अवसर पर होता है पूछा। विपक्षी इसमें भी अप्रतिभ ही रहा।

तदनन्तर स्वामी जी के वहां निर्विघ्न प्रवचन चलते रहे। तीसरे व्याख्यान में उन्होंने 'राजधर्म' पर वक्तृता दी। राजपुरुषों की उपस्थिति विशेष थी। अन्तमें दीवान जी ने कहा, "भगवन्"! आप तो राजनीति में भी हम से शतगुण निपुण दीख पड़ते हैं।"

क्षौर करने पर एक पण्डित से आपत्ति की, तो महाराज बोले, "यदि मुण्डन न करना ही त्याग का लक्षण है, तो भालू सबसे बड़ा विरागी है।"

संस्कार विधि का लेखन यहां बड़ौदा में समाप्त हो गया।

एक पण्डित ने सन्त शिरोमणि से कहा, "यतीनां काञ्चनं दद्यात् ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्। चौराणामभयं दद्यात् स नरो नरकं व्रजेत्॥" "शास्त्र यतियों को सुवर्ण आदि देने का निषेध करता है। फिर आप क्यों स्वीकार करते हैं?" दिव्य दयानन्द ने उसका तात्पर्य बताते हुए कहा, "सङ्ग्रह करने की दृष्टि से यह बात कही है। गङ्गातट पर पर्यटन के समय मैं केवल कौपीनधारी था। इस समय जो कुछ भी ग्रहण करता हूं, कूपमृत्तिका न्याय से परोपकार में ही लगा देता हूँ। जिन्होंने अपना शरीर भी पर-हित अर्पित किया है, उनको यह वैभव कदाचित् आकृष्ट नहीं कर सकता।"

एक दिन महाराज को भोजन कराने के पश्चात् बड़ौदा राज्य के दीवान बहादुर उन्हें एक सहस्र मुद्रा अर्पण करने लगे, तो वीतराग यतिराट् ने कहा, "मैं इस प्रकार रुपया न लूंगा। गोसाइयों को मेरी इस प्रवृत्ति से स्वयं को पुजवाने का एक उदाहरण मिल जायेगा।"

"यदि आप दीवान बहादुर से कहकर गोविन्दराम को कारा मुक्त करादें" पं० कृष्णराम ने स्वामी जी से कहा, "तो वे वेद भाष्य के लिए २० सहस्र देने की इच्छा रखते हैं।"

"रुपया लेकर ऐसा करना महा पाप है" स्वामी जी ने डाँटते हुए उसे कहा, "यदि वह निरपराध है, तो छूट जाएगा।"

महाराज की इस सत्योक्ति पर वह कुछ दिनों में ही छोड़ दिया गया।

बड़ौदा से बम्बई पधार कर अद्वितीय व्याख्याता दयानन्द ने 'आर्यों का इतिहास' 'हिन्दुओं की नवयुवक सन्तति' 'ईश्वर के गुण' 'अस्तित्व और यज्ञ आदि विषयों की चारु व्याख्या की। व्याख्यान मञ्च पर संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स तथा बम्बई के समाहर्त्ता मि० शेफर्ड, राव बहादुर नाना मोरो जी न्यायाधीश आदि प्रमुख रूप से निमन्त्रित थे। न्यायाधिपति महोदय ने महाराज को शाल का जोड़ा देना चाहा, परन्तु अपरिग्रह के उपासक योगीन्द्र दयानन्द ने कहा, "आवश्यकता नहीं है, यदि होती भी, तो एक ही पर्याप्त था।"

बम्बई में प्रबल प्रयास करने पर गट्टूलाल जी शास्त्रार्थ को उद्यत हुए। पर

समय आने पर वे वमन का वहाना बनाए घर बैठे रहे। अपनी पोल न खुले, इस हेतु उसने रामलाल को भेजा। दौर्भाग्य समझिए उसका कि वह भी प्रतिमा पूजन में प्रमाण न दे सका। पुराण, मनुस्मृति के वाक्य उसने उद्धृत किए, इस पर मध्यस्थ ने ही उसे रोकते हुए कहा, "स्वामी जी जो पूछते हैं, उसका उत्तर दीजिए। पण्डितों का प्रहसन न कराइये।"

वैक्रमाब्द सन् १९३३ में महाराज इन्दौर पधारे। वहां उनकी व्याख्याओं में इन्दौर नरेन्द्र तुकोजी राव भी पधारते थे। स्वामी जी ने राजनीति के कुछ सिद्धान्त भी लिखकर दिए। इन्दौर छोड़ते समय तुकोजी राव ने महाराज को मार्गव्यय देकर ससम्मान विदा किया।

मूर्ति में अनास्था की पराकाष्ठा

ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपत् को यतिभूषण फर्रुखाबाद आए। वहां की असङ्ख्यक जनता को स्वामी जी के व्याख्यानों ने अपनी ओर झुका लिया। पादरी लूकस से भी ईसाई धर्म पर शास्त्रार्थ हुआ। वहुत देर तक बीच बचाव करते रहने पर भी वह अपने धर्म की मौलिकता स्थापित न कर सका। मूर्तिपूजा मे स्वामी जी की कितनी अनास्था है ? यह जानने के लिए लूकस ने पूछा, "आप को तोप के मुख पर रखकर कहा जाय कि यदि मूर्ति को मस्तक नहीं नमाओगे, तो उड़ा दिए जाओगे, तब आप क्या कहोगे ?"

"मैं कहूँगा, उड़ादो" स्वामी जी ने साहस से कहा।

ईसाई हेर-फेर से अपने रोष को प्रकट कर ही देते थे। उसमें उन द्वारा दयानन्द के प्राण हरण का कुछ आभास मिल जाता था। परन्तु स्पष्ट रूप में ऐसा कहना वा करना उनके लिए अशक्य था; क्योंकि भारत के प्रमुख व्यक्तियों, समाचार पत्रों और कतिपय राजाओं के वे प्रतिष्ठा केन्द्र बन चुके थे। यदि ऐसा कर दिया जाता, तो देश मे विद्रोह फूट पड़ता और अंग्रेज़ों के लिए सन् १८५७ से भी बहुत बुरे दिन आ जाते। इस कारण उन्होंने गुप्त षड्यन्त्र करते रहना ही सर्वोत्तम समझा।

फर्रुखाबाद १५ दिन ठहर आर्ष पुरुष दयानन्द लेखक भीमसेन को साथ ले, काशी पहुँचे। वेदभाष्य करने के लिए उपयोगी ग्रन्थों का संग्रह किया और भाष्य विचार आरम्भ कर दिया। पश्चात् जौनपुर होकर अयोध्या आए। भाद्रशुक्ला प्रतिपद् को ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का लिखाना भी आरम्भ कर दिया। वहां

शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन देकर गर्वान्वित पण्डितों का उपाह्वान किया। किन्तु सब अपने गृह-बिलों में ऐसे लुके रहे, जैसे सिंह की दहाड़ सुन आरण्यक जन्तु कहीं दिखाई नहीं देते। स्वामी जी अयोध्या में एक मास नौ दिन ठहरे और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का लेखन निरन्तर चलाते रहे।

अयोध्या से प्रस्थान कर उस लोकोत्तर देवता ने आश्विन शुक्ला नवमी को लखनऊ वासी आलोकित किए। वहां एक अवैदिक पण्डित ने पूछा, "मीमांसा सूत्रों में आए, आलम्भन शब्द का आप क्या अर्थ करते हैं ?"

"इसके दो अर्थ है" महाराज बोले "स्पर्श और वध। यहां स्पर्श अर्थ करने से अर्थ सौष्ठव आता है।"

स्वामी जी का ऋषि होना

शाहजहांपुर होकर सर्वथैव स्वतन्त्रमति दयानन्द कार्तिक पूर्णिमा को बरेली पहुंचे। पौराणिक समाज में हाहाकार मच गया। पांच सहस्र गुण्डे अङ्गद शास्त्री को आगे करके महाराज की ओर जा रहे थे कि सेठ लक्ष्मीनारायण जी ने उन्हें, स्वामी जी के आवास स्थान अपनी कोठी में प्रविष्ट नहीं होने दिया। सेठ जी ने २०० रुपये वेदभाष्यनिधि में महाराज को समर्पित किए। वहां वनमाली वङ्गाली बाबू मैक्समूलर के अंग्रेजी भाष्य को आर्यभाषा में सुनाते थे। यहीं ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका लिखकर समाप्त कर दी गयी। उसके प्रतिज्ञा विषय में स्वामी जी ने स्वयं को ऋषि होना स्वीकार किया है; इस कारण अब लेखक अगले पृष्ठों में उन्हें ऋषि शब्द से भी व्यवहृत करेगा।

बरेली से चलकर ऋषिराज मुरादाबाद पधारे, राजा जयकृष्णदास की कोठी में उनके पांच-छह व्याख्यान हुए। एक चक्राङ्कित 'आकृष्णेन रजसा' इस मन्त्र की व्याख्या पर बहुत घृणित बोल बोलता रहा। किन्तु सब ऐसे नहीं थे। संशयालु अपने संशय भी मिटाते थे। अनेक व्यक्तियों ने सुरापाण और वाराङ्गणाओं का बहिष्कार भी किया। यहां १५ दिन तक पादरी डब्ल्यू पार्कर से लिपिबद्ध शास्त्रार्थ भी हुआ। सृष्टि विषयक शास्त्रचर्चा में जब पादरी ने कहा कि इसे उत्पन्न हुए पांच हजार वर्ष हुए हैं, तो वहीं बृटिश इण्डियन ऐसोशियेशन कोष्ठ से ऋषि दयानन्द ने एक बिल्लोर प्रस्तर उठाकर पादरी से पूछा, "आप लोग वैज्ञानिक हैं। इसके निर्माण में कितने वर्ष लगेंगे ?" तो वह बोला, 'कई लाख' इससे उसका पूर्वोक्त वचन असत्य हो गया।

श्री बख्शीराम को महर्षि ने अपना निम्न अनुभूत जप मन्त्र साधना के लिए बताया। "ओम् भूः, ओम् भुवः, ओम् स्वः, ओम् महः, ओम् जनः, ओम् तपः, ओम् सत्यम्। ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्। ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा।"

मुरादाबाद से चलकर दयानन्द यति छलेसर विद्यमान हुए। पाठशाला में आर्ष ग्रन्थों से अध्यापित छात्रों को भी जब पाखण्ड में ही निगडित देखा, तो सप्तवर्षीय वह पाठशाला भी तुरन्त तोड़ दी। सात दिवस यावत् छलेसरवासियों को उपकृत कर आर्षपुञ्ज दयानन्द अलीगढ़ होते हुए पौष सुदी २ संवत् १९३३ को लार्ड लिटन उपराज के दरबार में दिल्ली सुशोभित हुए। इस अवसर पर देशभर के राजे, महाराजे, उच्चराज्य कर्मचारी महारानी विक्टोरिया के सम्मान में एकत्रित हुए। उन सबको इकट्ठा ही वैदिक धर्म की लडी में गूथने के लिए महर्षि का विचार था; पर यह साध पूरी न हुई। फिर भी आशावादी ऋषिवर्य ने भारतीय अनेक मतावलम्बियों को एक सङ्घटित सभा बनाने के लिये अपने स्थान अजमेरी द्वार पर शेरमल की रम्य वाटिका में आमन्त्रित किया। सुधारकों में प्रमुख श्री कन्हैयालाल जी अलखधारी, श्रीयुत नवीनचन्द्रराय, श्रीमान् हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, श्री सय्यद अहमदखां, केशवचन्द्र सेन और इन्द्रमन जी ऋषि दयानन्द के चरणों में पहुंचे। ठाकुर मुकुन्दसिंह, गोपालसिंह, भूपालसिंह और किशनसिंह आदि तो डेरे में साथ थे ही। परस्पर के परामर्श से वैदिक धर्म के व्यापक प्रचार का मार्ग अन्वेषण किया जाने लगा। परन्तु कतिपय विचारों में ब्राह्मसमाज के प्रवर्तक श्री केशवचन्द्र सेन प्रभृति से मत भेद बना रहा; फिर भी अनेक बातों में सहमति दीखने पर कुछ कार्य होने की आशा बंधी।

महाराज ने दिल्ली में विज्ञापन वितरित कराके जनसाधारण को भी अपने सम्पर्क में लिया। जहां अनेक लीला पण्डितों ने अपने कुचक्र चलाए, वहां पञ्जाब प्रान्तीय अनेक महानुभाव प्रभावित भी हुए। वे महाराज से बोले, "करुणानिधे! हमारे पञ्जाब प्रदेश को भी अपनी धर्ममेघ-वृष्टि से सींचकर शस्यश्यामला बनाइये। जो देश ऋषियों मुनियों का केन्द्रस्थल था, जिसे तक्षशिला आदि विश्व-विद्यालयों ने गौरवान्वित किया था; वही देश आज अर्वाचीन यवन सभ्यता की ओर आशा लगा रहा है।"

इन वचनों से भगवान् का हृदय हिल उठा और उन्होंने अपना मुख पंजाब की ओर फेर दिया।

दिल्ली से प्रस्थान कर पञ्जाब के लिए ऋषि दयानन्द १६ जनवरी १८७७

को मेरठ में आ उपस्थित हुए। मास पर्यन्त मेरठवासियों को धर्मानुरागी बना १५ फरवरी को सहारनपुर में पड़ाव डाला। यहाँ आर्य कौन है और कहाँ है, सत्य, सृष्ट्युत्पत्ति, सुखी कौन है और दुःखी कौन है? विषयों पर तीन-तीन घण्टे व्याख्या करते रहे। व्याख्यान स्थान भारी भीड़ से चेतनावान् था। इन्हीं दिनों चाँदपुर में एक मेले का आयोजन किया गया, जिस की गाथा भी प्ररोचक है।

चाँदपुर का मेला

दो सोदर्य भ्राताओं में से लघु भ्राता प्यारेलाल कबीर पन्थी था और मुक्ताप्रसाद था उसका प्रतिपक्षी। चाँदपुर (शाहजहांपुर) के इन दोनों भ्राताओं ने सर्वोत्तम मत के निर्णयार्थ इस मेले का संगठन किया। मुसलमानों के प्रतिनिधि मुहम्मद कासिम को देवबन्द से, ईसाई शिरोमणि जे० टी० स्काट को बरेली से और सब मतों के समीक्षक स्वामी दयानन्द सरस्वती को सहारनपुर से आमन्त्रित किया गया। मुरादाबाद से श्री इन्द्रमणि को बुलाने के लिए भी श्री स्वामी जी ने लिखा था। मेले का नाम था—'मेला ब्रह्म विचार'। जिसमें विचारार्थ निम्न पाँच प्रश्न रखे गए

(१) परमेश्वर ने जगत् को किस वस्तु से, किस समय और किस उद्देश्य से बनाया? (२) ईश्वर व्यापक है वा नहीं? (३) ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है? (४) वेद-बाईबल और कुरान के 'ईश्वर-वाक्य होने में क्या प्रमाण है? (५) मुक्ति क्या पदार्थ है और वह किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?

१९ मार्च १८७७ से संवाद प्रारम्भ होगया। मुसलमान और ईसाइयों ने क्रमशः प्रश्नों पर विचार करना आरम्भ कर दिया; परन्तु १३०० और १२०० वर्ष पूर्व से ही प्रचलित ये मतवादी प्रथम प्रश्न पर ही आकाश ताकने लगे। जब कि सृष्टि के इतिहास वेत्ता आदर्श संन्यासी ने सङ्कल्प के समय उच्चारण किए जाने वाले वाक्य को उच्चवाणी से सुनाया और बताया कि सृष्टि को बने १९६०८५२९७७ वर्ष हो चुके हैं। सृष्टि की रचना किस पदार्थ से हुई, इसका भी वे पुरोवर्ति विश्लेषण न कर सके। आगामी दिवस अन्य विषयों पर भी विचार हुआ; परन्तु प्रश्न ही कुछ ऐसे थे, जिन्हें सुनते ही उनके पैर उखड़ते थे। स्वामी जी ने मेलायात्रियों को बहुत ही सरस और सरल भाषा में अपना कथन समझाया। हिन्दू अपने मध्य में विचित्र प्रवक्ता श्री स्वामी जी को देख खिल उटते थे मुसलमान और ईसाई अधोमुख हुए दायें-बांये झांकते थे। प्रतियोगी प्रवक्ताओं ने

पूछी गयी बातों के समाधान में बुद्धि कौशल दिखाया भी; पर सब ही नीरस ही रहा। पश्चात् प्रतिस्पर्द्धी वे नमाज़ आदि के बहाने, आरण्यक केसरी के सन्त्रस्त हरिणयूथ के समान सभा मञ्च छोड़े गए। उनके सहचर प्रतिद्वन्द्वीजन श्री स्वामी जी को भी चकमा दे एक ओर लेगये। पीछे अन्य मुसलमानों और ईसाइयों ने उच्च मञ्च पर खड़े होकर घोषणा करदी कि मेला विछुड़ गया है। मेला उखड़ जाने पर यत्न करते हुए भी वह न लग सका। विवशतः स्वामी जी को भी अपने आवास पर आना पड़ा। पादरी स्काट को उनकी अगाध विद्या पर विस्मय था। वह वार्तालाप करने निशीथवेला में उनके डेरे पर पहुँचा और पूछने लगा, "संसार में गमनागमन सत्य है वा असत्य ?" स्वामी ने विस्तृत व्याख्या कर सर्वथा उसको सन्तुष्ट कर दिया। आगे शङ्का उठाई, हम आर्य हैं वा नहीं ?" महाराज बोले, "आर्य का अर्थ है–श्रेष्ठ, धर्मात्मा। आप की बाइबिल ही आपको इसके विरुद्ध घोषित करती है—कुछ शिष्यों ने ईसा से जानना चाहा कि जैसे आप अन्धे कोढियों को स्वस्थ कर देते हैं, हम क्यों नहीं कर सकते ? तो ईसा ने कहा, "तुम्हें रञ्चमात्र भी विश्वास नहीं है।" अब आप ही बताइये, जब ईसा के शिष्यों में ही श्रद्धा की कमी थी, तब आप लोगों में भी वे भाव कैसे हो सकते हैं।" महाराज ने स्काट महाशय से यह भी कहा कि मैं ने बाइबिल को अन्त तक विचार लिया है।

पूर्व से कबीर पन्थी प्यारेलाल ने महाराज से अजपाजप का विधि पूछा और उसे स्वयं करके देखा, तो आश्वस्त हुआ कि स्वामी जी न केवल पण्डितावतंस ही हैं, योग निष्णात भी हैं।

शाक्तों में विश्वास नहीं

महाशय बखशीराम और इन्द्रमणि जी मेले में महाराज के डेरे पर ही उपस्थित थे। उनसे कहने लगे, "जिन दिनों मैं एकाकी घूमता था, अकस्मात शाक्तों के स्थान पर पहुंच गया। वे मेरी सेवा बहुत श्रद्धा से करते थे। उन्होंने मुझे बहुत दिनों तक ठहराया। इतने में उनका पर्व दिन आगया और वे मुझ से भी मन्दिर में चलने का आग्रह करने लगे। मेरे नकार करने पर वे बोले, "आप मूर्ति को नमस्कार आदि कुछ न करना, आप साथ रहेंगे, तो हमारा उत्साह बना रहेगा।"

"उनका मन्दिर नगर से बाहर उजाड़ स्थान में था। जब मैं उनके साथ वहां गया, तो खुले में होम हो रहा था। दूसरे लोग महोत्सव मना रहे थे। वे

मुझे भी अपने साथ दुर्गा की प्रतिमा दिखाने लेगये। मैं मूर्ति के सम्मुख जा खड़ा हुआ। वहीं समीप में खड्ग हाथ में लिए एक राक्षस खड़ा था। उस समय उन सभी ने मुझे कहा, "महात्मन् ! माता को नमस्कार अवश्य कीजिए।" मेरे वैसा न करने पर वहां का पुजारी चिड़ गया और प्रसह्य मेरा शिर झुकाने लगा। उससे छुड़ाने में ज्योंही मेरी दृष्टि घूमी कि वह कृपाणपाणि प्राणी मेरे निकट ही आ चुका था और अपना शस्त्र मेरी ग्रीवा पर गिराने को ही था कि मैं तत्काल सावधान हो उठा। मैं उसका हथियार छीनकर ज्योंही बाहर आया, तो प्राङ्गण के सभी लोग भाले, बरछी, कुल्हाड़े लिए मुझ पर टूट पड़े। उन्होने द्वार पर पहिले ही ताला लगा दिया था। अगत्या, मैं क्षण भर में उछल कर भित्ति पर चढ़ गया और पार कूद गया। उस चाण्डाल-मन्दिर के समीपस्थ वन में मैं दिन भर छिपा बैठा रहा और तमिस्रा का साम्राज्य आजाने पर किसी दूसरे ग्राम में पहुंचा। तब से मैं ने कभी शाक्तों में विश्वास नहीं किया।"

चांदपुर से सहारनपुर आकर एकमतप्रचारी दयानन्द वैशाख कृष्णा द्वितीया सँव्वत् १९३४ को लुधियाना के लिए प्रस्थान कर गये। महर्षि के साथ उस समय १०, १२ कर्मचारी थे, जिनमें से अनेक लेखन का कार्य करते थे। इसके साथ-साथ उनके व्याख्यानों की माधुरी भी लुधियाना नागरिकों के कर्ण का आभरण बन रही थी। महर्षि ने वहां स्पष्ट घोषणा की कि यहां सात व्याख्यान होंगे। व्याख्यानों के मध्य मे कोई शङ्का न करेंगे। हां, समाप्ति पर सबका समाधान कर दिया जावेगा।

जब से महर्षि ने पञ्जाब प्रान्त में प्रवेश किया, एक गुप्तचर सिख छाया की भांति उनके पीछे लगाया गया था। वह प्रत्येक चेष्टा से बृटिश प्रशासन को सूचित करने लगा।*

एक दिन पादरी बेरी ने महर्षि दयानन्द से कहा, "हिन्दू धर्म में श्रीकृष्ण जी के जो कर्म वर्णित किये गए हैं, उनसे उनकी उच्चता द्योतित नहीं होती।"

---

* श्री प० बुद्धदेव जी मीरपुरी पुरानी मण्डी सहारनपुर आर्यसमाज से कथा करके लौट रहे थे, तो चलते-चलते उन्होंने कथा सुननेवाले सिख से पूछा—"आप आर्यसमाज का सत्सङ्ग कब से करने लगे ?" उसने उत्तर दिया—"मेरे पिता एक वर्ष तक पञ्जाब में स्वामी दयानन्द के पीछे गुप्तचर नियुक्त किये गए थे। इस कारण हम बहुत पुराने सत्सङ्गी हैं। हमारे यहां उनके सब ग्रन्थ रक्खे हैं।" आगे वे उससे विशेष नहीं पूछ सके, क्योंकि रेलगाड़ी का समय हो चुका था।

"जो व्यक्ति कबूतर में ईश्वर का आत्मा उतरना मान सकते हैं" महर्षि व्यङ्ग करते हुए बोले, "वे वासुदेव की लीलाओं को सुनने में गौरव क्यों न मानेंगे। वस्तुतः श्री देवकी-पुत्र पर यह सब मिथ्यारोपण ही है।"

पुनर्जन्म के विषय में पूछने पर महर्षि ने कहा, "जब आप खान-पान आदि व्यवहार इस तन में ही स्वीकार करते हैं, तब ईसाई धर्म के स्वर्ग में जो भोगों का वर्णन है, वह देह-धारण करने पर ही सङ्गत बैठता है। इसे ही पुनर्जन्म कहते हैं।"

दीपक चमत्कार

एक दिन श्री महर्षि ने भक्तों को चमत्कार दिखाया—एक ताक में एक दीपक रक्खा। २५ हाथ दूर आले में उसके सम्मुख दूसरा रक्खा। पहले को बुझा दिया। जब दूसरे को बुझाने लगे, तो पहला जल उठा। जब उसे बुझाया, तो दूसरा जलने लगा। बहुत समय तक वे इस कौतुक से सब को रिझाते रहे।

एक पण्डित ऋषि दयानन्द का मुख भी नहीं देखना चाहता था, तब ऐसे ग्लानिभरे मूर्ख से उन्होंने कहा, "यदि आप मेरा मुख नहीं देखना चाहते, तो पीठ पीछे होजाइये; परन्तु सत्यासत्य पर विचार अवश्य कीजिए।"

इसी प्रकार एक अन्य मनचले संस्कृतभाषी विद्वान् से बोले, "आप ने अब देख लिया है कि मैं संस्कृत जानता हूँ। हिन्दी में वार्तालाप कीजिए, जिससे ये उपस्थित लोग भी कुछ समझ सकें और लाभ उठावें।"

लुधियाने से चलकर महर्षि वैशाख शुक्ला षष्ठी को लाहौर पहुंचे। सायङ्काल छह बजे उनके व्याख्यानों से सहस्रों जन आत्मतृप्ति करने लगे और अनेकों ने तो अपनी शिव आदि की प्रतिमाएँ रावी नदी में ही सरका दीं।

एक दिन उनके समीप शराब के क्रय-विक्रयी लाला लालचन्द जी आए। उन्होंने कहा, "मैं तान्त्रिक कर्म द्वारा दूर देश से विविध पक्वान्न मँगा लेता हूं।" स्वामी जी ने उन्हें समझाया, "ये क्रियाएँ अच्छी नहीं हैं। इन से परिणाम में हानि ही होती हैं; अतः ये दोषपूर्ण हैं। आप इन्हें छोड़ दीजिए और मद्य का धन्धा भी ठीक नहीं है। प्रत्येक दशा में स्वच्छ ही कार्य करना उत्तम मानव के लक्षण हैं। ऐसे पुरुष जहां अपना लाभ करते हैं, दूसरों का कल्याण तो उनसे होता ही है।।"

श्री लालचन्द जी ने आदर्श सुधारक के वक्तव्य को शिर माथे लिया और तब ही से दोनों व्यापार छोड़ दिए।*

योगिवर्य दयानन्द ने लोगों को अपने जीवन की बीती बातें भी सुनाईं,— "गङ्गा तीर पर विचरते हुए एक दिन एक सघन अरण्य से आता हुआ एक सिंह मेरी दृष्टि में आया, जब मैं उसके पार्श्व पहुंचा तो वह वनराज जङ्गल में लौट गया। उन्होंने आगे कहा, "एक समय मैं अपने कुटीर में आसन लगाए बैठा था। समय रात्री का था। कुछ लोग चुपके से आए और अग्नि लगाकर चलते बने। जब ज्वालाएँ धधक उठीं तो, मैं भाग निकला। पता लगा कि यह दुष्कर्म समीप-वर्तीनि कुटियाओं में रहने वाले साधुओं का है।"

ब्राह्मसमाजियों ने भी परमहंस दयानन्द के व्याख्यान अपने यहां कराए। निष्पक्ष महर्षि ने उनके मन्तव्यों की अविकल धज्जियां उड़ाईं। इससे रुष्ट होकर उन्होंने स्वीकार किया हुआ दैनिक व्यय देना बन्द कर दिया। भक्त मनफूल जी ने कहा कि मूर्तिपूजा-खण्डन से भी सम्पूर्ण नगर क्षुब्ध हो उठा है। यदि आप प्रत्याख्यान न करें तो जम्मू कशमीर के राजाधिराज भी आप पर प्रमुदित हो जायेंगे। महाराज ने उससे कहा, "मेरा काम किसी को प्रसन्न करना नहीं है। मैं ईश्वर-वचन के पालन से तनिक भी नहीं हटूंगा।"

आर्यसमाज के नियम

महर्षि दयानन्द के सत्प्रचार से प्रफुल्ल होकर अनेक लोग आडम्बर-हीन भी हो गए। उन्होंने तत्काल आर्यसमाज की स्थापना का सङ्कल्प किया। महर्षि ने वहीं आर्यसमाज के नियमों का संस्कार किया। दस नियम ऐसे निर्धारित किए कि उनमें से एक शब्द का भी इधर-उधर करना उन्हें अभिप्रेत न था। इन नियमों के प्रणयन से बम्बई में पारिख जी द्वारा निर्मित २८ नियम स्वयं अनुपयोगी होगये। नियम-निर्धारण के अनन्तर महर्षि के करकमलों से आर्यसमाज की स्थापना हो गई और उसकी अविरत उन्नति का शुभ वचन भी आर्यजनों ने सुना।

एक समय साप्ताहिक सत्सङ्ग में प्रार्थना उपासना के मध्य महर्षि का शुभागमन हुआ, तो सभासदों ने उनका अभ्युत्थान किया। उपासना-अवसान पर श्री

---

* श्री लालचन्द जी, वैदिक अनुसन्धाता श्री भगवद्दत्त जी के पिता थे। जिस समय की यह घटना है, अनुसन्धाता जी का जन्म नहीं हुआ था। इस वृत्तान्त का प्रत्यय उन्हें पीछे अपने पिता जी से ही हुआ।

दयानन्द जी ने कहा—"ईश्वर से बड़ा कोई नहीं है। उसकी प्रार्थना और आराधना के समय किसी के लिए भी उठना उचित नहीं है।"

ब्रह्मर्षि दयानन्द से कतिपय महानुभाव संस्कृत भी सीखते थे। उन्होंने शिष्य गणपतराय से कहा—"आपका आयुष तीस वर्ष से न्यून ही है। इस कारण आप विवाह न कीजिएगा।" उसके न चाहते हुये भी माता-पिता ने उसे गृह-बन्धन में बांध ही दिया। ऋषि-वचन तो अमोघ होते हैं। नियत समय पर वह अपनी सौभाग्यवती वधू को सदा के लिये उसके भाग्य पर छोड़ कर चल बसा।

आचार्य दयानन्द के बताये योग-विधि से जब एक साधक को अन्त: प्रकाश न हुआ, तो उन्होंने कहा—"श्रद्धा से लगे रहने पर अन्धकार में प्रकाश अवश्य दीख पड़ेगा, योग की सब विभूतियां सत्य हैं।"

मुक्ति से न लौटने के प्रश्न पर श्री दयानन्द जी ने कहा—"सान्त कर्मों का परिपाक अनन्त होना सम्भव नहीं है, मोक्ष भी कर्मों का एक भोग है। उसकी समाप्ति पर पुनरावर्तन अवश्यम्भावी है।"

लाहौरवासियों को आर्यत्व नीर से सींचकर महर्षि अमृतसर में पधारे। आषाढ़ शुक्ला प्रतिपत् संव्वत् १९३४ से वहां भी वैदिक बोध का दर्शन कराने लगे। प्रतिमा-पूजन अवतारवाद और मृतक श्राद्ध के पाप-पङ्क से निकाल कर वैदिक शीतल तरङ्ग गङ्गा में स्नान कराने लगे। किन्तु पङ्क कीट जैसे पङ्क में लिपटा रहना ही अच्छा मानता है; वैसे ही पण्डित पुरोहितों को अज्ञान से ज्ञान प्रकाश में आने पर असह्य उष्णता प्रतीत होती थी। श्री रामदत्त विचक्षण शास्त्री को श्री दयानन्द जी से निपटने का लोगों ने अनुरोध किया, पर वे सभ्यता के उपासक थे, उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"स्वामी दयानन्द जी वेद शास्त्र के अतुल व्याख्याता हैं। प्रयोजनशून्य वाद-विवाद करना मेरी प्रकृति से बहि: है।" लोगों ने उन्हें जब और अति विवश किया, तो वे अमृतसर छोड़ कर हरद्वार चले गए।

बच्चों को मिठाई

महर्षि को परास्त करने के सब उपाय निष्फल हो जाने पर एक अध्यापक के मस्तिष्क में एक कुसंस्कार उत्पन्न हुआ। उसने अबोध विद्यार्थियों से कहा—"तुम सब मेरे साथ उपदेश सुनने चलना। साथ में कङ्कर, पत्थर ले चलना। जब मैं कहूं, दयानन्द पर फैंक-फैंक कर मारना। जो अधिक मारेगा, उसे इतनी ही संख्या में लड्डू मिलेंगे।"

प्रलोभन में आकर भोले बच्चों ने वैसा ही किया। कङ्कर, पत्थरों की वर्षा से सारी सभा में आतङ्क छा गया। महाराज ने सब को शांति से बैठे रहने का आदेश दिया। आरक्षियों ने जब कुछ छात्रों को पकड़ा, तो वे सुबक-सुबक कर रोने लगे। श्री दयानन्द सरस्वती ने उनसे पूछा—"तुम ने कङ्कर, पत्थर क्यों फेंके थे।" बालक बोले—"गुरु जी ने कहा था कि जो जितने मारेगा, उसे उतने ही लड्डू मिलेंगे।"

महर्षि को दया आई और स्नेह लसित वाणी में बोले—"बच्चो! तुम्हें पढ़ाने वाले तो सम्भव है न भी दें, मैं ही तुम्हारी इच्छा पूरी किये देता हूं।"

महाराज ने आपण से तत्काल मोदक मंगा कर उनमें बांट दिये।

व्याख्यान के पश्चात् एक प्रश्नकर्त्ता अपनी आसन्दी को महाराज के सिंहासन से नीची रहती देख, बोला—"हमें भी आपके समान ही आसन मिलना चाहिये। नीची पीठिका पर बैठने से हमारी हेठी होती है।"

"पण्डित होकर भी आप ऐसी बातें करते हैं।" आचार्य दयानन्द ने कहा—"यदि इन्हीं बातों में छुटाई-बड़ाई सीमित है, तो सम्मुख काष्ठपटल पर यह कुर्सी रखकर बैठ जाइये। क्या चक्रवर्ती के मुकुट पर मक्खी बैठ कर कभी बड़ी हो सकती है।"

उसके चले जाने पर दूसरा आगे आया—"आपके कथनानुसार यदि हम अशिक्षित ब्राह्मण गोदान न लें, तो क्या खायें? राख।"

"नहीं नहीं, राख को क्यों खाते हो, घास खाया करो।" महर्षि ने उत्तर दिया।

हिन्दू धर्म का विस्तार

"हिन्दू धर्म को सूत्र के तार के सदृश कच्चा क्यों कहते हैं?" आयुक्त ने पूछा।

"यह कच्चा नहीं; लोहे से भी पक्का है" महाराज ने दृढ़ता से कहा—इस धर्म में जहां दयावान्, सदाचारी, परोपकारी और निराकारेश्वरवादी जन हैं, वहां क्रूर, कदाचारी स्वार्थी और अवतारवादी भी विद्यमान हैं। इसमें जहां योगी, ध्यानी, तपस्वी और आजीवन व्रती हैं, वहां सांसारिक सुखामोद में व्यासक्त व्यक्तियां भी हैं। छूआ छूत माननेवाले हैं तो सहभोजी भी हैं। परमार्थदृक् तथा तत्त्ववित् यदि इस धर्म को शोभायमान बना रहे हैं, तो बहुत से ज्ञान के पीछे डण्डा लिये भी डोल रहे हैं; इस प्रकार की मूर्तियों में हिन्दू धर्म सदा दृढ़ है। मैं वेद का ज्ञान प्रसारित करके सुखाभासी जनों को सुखी देखना चाहता हूं।"

एक दिन एक साधारण स्थिति के भक्त ने निवेदन किया, ''प्रभो ! समृद्धि शाली जन तो दान-पुण्य करके कुछ अपना कल्याण कर जायेंगे, मैं निर्धन तो कुछ भी नही कर सकता।'' धर्म के पारदर्शी ने उत्तर दिया, ''भद्र आप किसी का अपकार और पापकर्म न करने से धार्मिक बन सकते हैं। उत्तम जीवन बिताना भी उपकार ही है।''

महर्षि वेदभाष्य लिखा रहे थे कि अकस्मात् बोले, ''तुरन्त सब वस्तु निकाल दो।''

ज्यों ही सब पदार्थ बाहर किये कि छत धड़ाम से गिर पड़ी।

बुधवार श्रावण शुक्ला सप्तमी को आर्योद्देश्य रत्नमाला लिखकर समाप्त कर कर दी गई।

एक दिन व्याख्यान के समय भूतल और आकाश को एक करती हुई भयावह आंधी को आती देख लोग घबराने लगे। महाराज ने पटल पर हाथ मारते हुए उच्च घोष किया, ''शान्ति पूर्वक बैठे रहो, झंझावात इधर नहीं आयेगा।'' सचमुच वैसा ही हुआ।

अमृतसर में आर्यसमाज की स्थापना करके श्रोत्रिय महर्षि श्रावण शुक्ला नवमी को गुरुदासपुर पधारे। उनके व्याख्यानों से व्यथित होकर मियां हरिसिंह अतिरिक्त सहायक आयुक्त और मियां शेरसिंह आरक्षी-अधीक्षक ने गणेश गिरि विरक्त महात्मा से निवेदन किया, ''आप दयानन्द जी के साथ शास्त्रार्थ करके हमे मूर्तिपूजकों में प्रतिष्ठित कीजिए।''

''हम तुम्हारे वाद-विवाद में नहीं पड़ते'' गणेश गिरि का वाक्य सुन, उन्होंने दीनानगर से पण्डित लक्ष्मीधर और दौलतराम को आमन्त्रित किया।

स्वामी जी शिव पुराण की आलोचना कर रहे थे कि दोनों राज्याधिकारी बिगड़ उठे। जब उन्होंने व्याख्यान टुक भर भी आगे न बढ़ने दिया, तो महाराज बोले, ''आपके पण्डितों में से कोई भी सम्मुख आकर शास्त्रार्थ करले।''

''हम तो सब ही यहीं से करेंगे'' तपाक से वे बोले। महाराज ने उन्हें वैसा ही करने की अनुमति देदी।

पण्डितों ने ''गणानां त्वा'' मन्त्र से प्रतिमा पूजन सिद्ध किया और अपनी पुष्टि में महीधर भाष्य दिखाया। वेदस्पर्शी महात्मा ने जब महीधर की अश्लील व्याख्या का दर्शन कराया, तो मियां जी आग बबूला हो उठे और बोले, ''यदि कोई देशी राजा होता, तो आपका मस्तक उड़ा देता। यहां पर दण्डाधिकारी और आरक्षी दोनों ही उपस्थित हैं।''

महाराज ने उनकी बातों पर तनिक भी कान न दिया और पहले से भी अधिक दृढ़ता में आबद्ध हो, लोगों की शङ्का-निवारण करते रहे।

वास्तु कला शास्त्री काक महाशय ने जब महाराज का यह वाक्य सुना कि अंग्रेजी पढ़े लोगों ने अब तक भी अपना उच्चारण शुद्ध नहीं किया, वे तकार को टकार ही बोलते हैं, तो वे रुष्ट होकर बोले, "पेशावर की ओर आओ, तो तुम्हें स्वाद चखाएँ।"

गुरुदासपुर में आर्यसमाज की स्थापना करके श्री दयानन्द सरस्वती ने अमृतसर को पुनः गौरवान्वित किया। इस बार मुख्य रूपेण वेदभाष्य करने को अधिक महत्त्व दिया, फिर भी १६ दिन के इस पड़ाव में वे यथावसर शङ्कासमाधान भी करते रहे।

भाद्र शुक्ला षष्ठी गुरुवार को जालन्धर आए। यहां ३४, ३५ व्याख्यान किये। मध्य-मध्य में मनोरञ्जक दृष्टान्त और अभिराम कथाएँ भी मिलाते चलते थे। अपनी व्याख्याओं में स्वामी जी ने वेश्या-व्यसन, तीर्थ माहात्म्य और गङ्गा स्नान से मुक्ति की प्राप्ति का घोर विरोध किया। अपवर्ग के साधनों में दुष्कर्मों का परिवर्जन, शुभ सङ्कल्पों का धारण तथा तपस्यापूर्ण जीवन को प्रधान स्थान दिया। मोक्ष के आनन्त्य को अप्रमाणित करते हुए महर्षि ने कहा, "श्रीकृष्ण आदि महापुरुष मुक्ति का काल समाप्त करके पुनः मानव देह मे आए थे और कार्य परायण होकर उन्होंने वैदिक मार्ग पर लोगों को आरूढ किया था।"

ब्रह्मचर्य का बल

एक दिन वे 'ब्रह्मचर्य' पर बोल रहे थे। जब उन्होंने इसके सरक्षण से अतिशय बल की प्राप्ति का वर्णन किया, तो सरदार विक्रमसिंह ने इसे प्रत्ययुक्ति बताया। दयानन्द व्रती उस समय तो चुप रहे; पर जब सरदार अपनी बग्घी में बैठकर चल पड़े, तो उस आदित्य ब्रह्मचारी ने पिछला पहिया पकड़ लिया। सारथि ने घोड़ों को कोड़े से अजस्र प्रताडित किया; फिर भी वे तनिक भी तो आगे न बढ़ सके। विक्रमसिंह जी ने पीछे की ओर टुक देखा, तो वह अपनी वाचोयुक्ति पर अति लज्जित हुआ। महर्षि ने पुनः बल देते हुए कहा, "वेदादि शास्त्रों को मैं अक्षरशः सत्य पाता हूं। यही कारण है कि मैं इनके प्रचार का शाघ्र अभिलाषी हूं।"

विजयादशमी तक जालन्धर वासियों को तृप्त कर, कर्म विश्लेषक श्री दयानन्द जी आश्विन शुक्ला एकादशी को लाहौर में सुशोभित हुए। उन्होंने एक पादरी से

कहा, "सम्पत्ति की अति वृद्धि अवनति की ओर ले जाती है। आर्य जाति इसी कारण अपना राज्य खो बैठी थी। अंग्रेज़ भी अब पुष्कल धन के कारण प्रमादी बनते जा रहे हैं। परम हंस वृत्ति में पर्यटन करते समय मैं प्रभात में इन्हें भ्रमण करते देखता था; परन्तु अब दिन चढ़े उठते पाता हूं।"

पादरी महोदय ने समझा कि श्री दयानन्द जी हमारे हितैषी हैं; किन्तु कूट नीतिक दयानन्द जी उनके राज्य की जड़ों को खोखली करने में लगे थे।

महर्षि ने आर्य सदस्यों से कहा, "आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध यदि प्रतिष्ठित पुरुष भी बोले, तो उसे उसी समय टोको, रोको।" श्री शारदा प्रसाद जी ने सत्सङ्ग में वेद, बाइबिल और कुरान आदि सभी ग्रन्थों को ईश्वरोक्त बताया था, उन्हें भी महाराज ने उपालम्भ दिया। तब से सभासदों ने दीवार पर लिख दिया, "किसी को नियम-विरुद्ध बोलने का अधिकार नहीं है।"

लाट विशप पादरी ने कहा, "भारतीय ऋषि-मुनि ईश्वर को नहीं जानते थे। ऋग्वेद में लिखा है—"कस्मै देवाय हविषा विधेम" "किस देव की अर्चना करें?" महर्षि ने अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़वाया और कहा, "इसी अशुद्ध लेखन से आपको भ्रम हुआ है। इसका ठीक अर्थ है "हम सुख स्वरूप ईश्वर की पूजा करें।"

"बाइबिल का ही महत्त्व है कि इसकी शिक्षा सर्वत्र फैल गई है" विशप ने फिर कहा।

महर्षि ने उन्हें समझाया कि इसका कारण बाइबिल की महत्ता नहीं है; प्रत्युत अंग्रेज़ों का वेदोक्त कर्म करना है। जब आर्य जाति वेद-निबद्ध थी, तब उसका राज्य सकल भूमण्डल में विराजमान था और उसी समय विदेशों में भी आर्य सभ्यता प्रचलित हो गयी थी।

महर्षि के सत्योपदेशों की सत्कीर्ति जब फिरोजपुर पहुंची, तो वहां के नागरिकों ने अति शीघ्र फिरोजपुर पधारने का निवेदन किया; अतः वे अपने दल-बल के साथ कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को वहाँ जा टिके।

महर्षि ने वहां सृष्ट्युत्पत्ति पर भाषण किया और व्याख्यान के अन्त में शङ्कानिवारण का समय भी दिया। विभिन्न प्रकृति के लोग थे वहाँ— कुछ ब्राह्मण तो उस भारी उपस्थिति में अपने प्रश्न ही भूल गए। बहुत-से पूछना चाहते हुए भी मुख न खोल सके। पण्डित कृपाराम को ऋषिराज का उच्च आसन ही खटक गया। देव दयानन्द ने उसके लिए तुरन्त एक आसन्दी मंगाई। तब उस पर अधिष्ठित हो, उसने माथे पर आंखें चढ़ाते हुए पूछा, "ईश्वर सर्वव्यापक है वा एकदेशी?"

"सर्वव्यापक"

"इस घड़ी में कहां है ?" पटल पर घटिका रखते हुए कृपाराम ने पूछा।

"आकाश के समान सूक्ष्मरूपेण इस घटिका में भी है, वह आंखों का विषय नहीं है" अपना सोटा उठाते हुए ऋषि बोले, "और देखो, इसमें भी है।"

इसके आगे कृपाराम को कुछ न सूझा।

रघुनाथ पूजारि से व्युत्पन्नमति दयानन्द ने कहा, "पूजारि का अर्थ है— पूजा का शत्रु। जब आप लोग अपने शब्दों को ही शुद्ध नहीं कर सकते, तब हम से कैसे शास्त्रालाप करेंगे। जैसे रुपयों के पारखी सब नहीं होते, वैसे वेदों के परीक्षक भी विद्वानों से अतिरिक्त दूसरे नहीं होते।"

अनेक मौलवी पादरियों ने भी अपनी शङ्काओं के समाधान कराए।

नगर में आर्यसमाज की स्थापना का धर्म बीज बोकर देशरक्षक दयानन्द कार्तिक अमावास्या को लाहौर पहुंचे। वहां अन्तरङ्ग परिषत् का अधिवेशन था। कुशल पार्षदों ने महर्षि को तत्काल अपनी सभा का सदस्य बनाया और अनेक वरिष्ठ विचारों से अलभ्य लाभ उठा लिया। फिर यतिराज रावलपिण्डी चले गए।

पञ्जाब में जब से आचार्य दयानन्द ने पदार्पण किया था, उनके उपदेश समाचार तब से ही पञ्जाब के कोने-कोने में व्याप्तिमान् होते जा रहे थे। रावलपिण्डी में पहुँचने पर पता चला कि यहां अनेक स्वार्थी नागरिकों ने भ्रान्तियां फैलाई हुई हैं कि दयानन्द ईसाई है, धर्मभ्रष्ट करता है, सनातन हिन्दू धर्म को नष्ट करता है, नास्तिक है, उसका मुख देखने से पाप लगता है किन्तु वहीं कुछ भव्य पुरुष भी मिले, जो उस युग-प्रवर्त्तक की उपस्थिति से स्वयं को गौरवशाली समझ रहे थे।

महर्षि ने पण्डितों से कहा, "जब ईसाई और मुसलमान ब्रह्मा जी पर आक्षेप करते हैं, तो आप दायें-बायें झांकने लगते हैं। आप न अपने ग्रन्थों को देखते हैं और न दूसरों के। यदि आप बाईबिल को देख लें, तो लूत की कथा सुनाकर ईसाईयों का मुख सम्पुट कर सकते हैं।"

दूसरे दिन ईसाई इकट्ठे होकर आए और बोले, "आपने कल लूत को असत्य वर्णित किया था।" महर्षि के समीप बाइबिल था। उन्होंने वह प्रसङ्ग उसी समय निकाल कर दिखा दिया। देखते ही मुख सफेद हो गया और मनस्ताप से वह भीतर ही भीतर कुढ़ता रहा।

कुछ द्विजों ने सम्पत् गिरि संन्यासी को शास्त्रार्थ के लिए आगे करना चाहा; पर वे सभ्य और चतुर महात्मा थे। विवाद के इच्छुक न थे। जब स्वामी जी का स्थान आया, तो चुपके से खिसक गये। तब गले पड़ी विपत्ति स्वयं ही टालनी पड़ी। वे अशुद्धभाषी पण्डित थे और थे वितण्डावादी। महाराज ने सिंहनाद लगाया; "यह बालकों का क्रीडा स्थल नहीं है! यहां तो बड़े-बड़े खिलाड़ी पछाड़ खा चुके हैं। जाओ, हमारा समय क्यों नष्ट करते हो।"

ऋग्वेद भाष्य

संवत् १९३४ मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी मंगलवार से ऋग्वेद का भाष्य करना आरम्भ कर दिया।

रावलपिण्डी रहते हुए उन्हें जम्मू-कश्मीर के राजाधिराज का आमन्त्रण प्राप्त हुआ; किन्तु भगवान् ने उनका वचन अङ्गीकार न किया; क्योंकि वे घोर मूर्ति पूजक थे। ऐसी अवस्था में वे कुछ लाभ उठा सकेंगे, महर्षि को आशा न थी। इस पर उन्होंने एक चुटकला सुनाया—एक मारवाड़ी राजा १४ सहस्रधान्य (किलो) रुद्राक्ष की माला का भार अपने साथ रखता था और उनपर एक पुरोहित से जल चढवाता था। निरन्तर ३० दिन के मेरे उपदेश से वह पाखण्ड-जाल से बाहर निकला। अब मुझे समय ही नहीं है।

आर्षपुञ्ज महर्षि रावलपिण्डी से गुजरात जाते हुए पौष कृष्णा बृहस्पतिवार को जेहलम रुके। एक व्याख्यान धर्मशाला में और दूसरा अपने पड़ाव पर किया। एक दिन राजकीय विद्यालय के ईसाई मुख्याध्यापक शिवचरण घोष ने महाराज से धर्म-चर्चा की। वाग्धुरीण दयानन्द ने बाइबिल के ही उद्धरणों से उसकी बोलती बन्द करदी। लगभग १५ दिन तक इसी प्रकार प्रचार चलता रहा।

जेहलम में आर्यसमाज की स्थापना करके श्री दयानन्द सरस्वती गुजरात पहुँचे। पण्डित होशनाकराय ने कहा, "मनुस्मृति में मूर्तिपूजा का उल्लेख है।" स्वामी जी ने पुस्तक देते हुए कहा "दिखाओ" वे बोले, "इसमें नहीं, अपने में दिखाऊंगा।" दूसरे दिन उपदेश में वे चुपके से पीछे आ बैठे। महाराज ने अन्त में उच्च घोष किया, "होशनाकराय आये हों, तो अपना प्रमाण उपस्थित करें।" वे जन समूह में उठना तो न चाहते थे; पर लोगों ने बैठे रहने नहीं दिया। उन्होंने जो श्लोक बोला, पारोवर्यवित् दयानन्द ने कहा, "यह तो विष्णु पुराण का है और वह ही आपने कक्ष मे दबाया हुआ है।" यह सुनते ही उसका मुख दो कौड़ी का होगया और वह बैठ गया।

बुकनयन बोले, "मोक्षमूलर ने मृत देह को भूमिगत करना लिखा है और आप अग्नि में भस्म करना मानते हैं।" महाराज ने कहा, "वहां यज्ञवेदी बनाकर शव को उसमें रखने का प्रकरण है। दाह-क्रिया इसके पश्चात् होती है। बुकनयन ने इसमें अपना तिरस्कार समझा।

स्वामी जी ने वहां वेद-महत्त्व, ब्रह्मचर्य-संरक्षण और सन्ध्या की भी व्याख्या की। जिससे असङ्ख्यक विद्यार्थियों के चित्त आलोकित हो उठे। अध्यापक मुहम्मददीन वहीं उठकर बोले, "मैं ने आज से नमाज छोड़ दी है। अब मैं सन्ध्या ही किया करूंगा।

यजुर्वेद भाष्य

वैक्रमाब्द १९३४ पौष शुक्ला त्रयोदशी बृहस्पतिवार से यजुर्वेद का भाष्य भी आरम्भ कर दिया।

एक सिख साधु प्रारब्ध मानता था, पुरुषार्थ नहीं। महाराज ने एक भृत्य से उसकी लोई छीनने को कहा। वह अपनी लोई दृढ़ता से पकड़कर बैठ गया और वह उतरने न दी। तब वह समझा कि पुरुषार्थ पहले और प्रारब्ध पीछे।

एक दिन की घटना है कुछ पण्डित विशेष प्रश्नों को लेकर अगाव बुद्धि दयानन्द का मुख बन्ध करने आए और पूछने लगे; आप ज्ञानी हैं वा अज्ञानी?

"वेद विषय में ज्ञानी हूं," महाराज ने उत्तर देते हुए कहा, "अंग्रेजी-उर्दू-फारसी नहीं जानता, इस कारण इन भाषाओं में अबोध हूं।"

प्रष्टाओं को ऐसे अप्रत्याशित उत्तर की आशा न थी; अतः उन्होंने अपने निश्चय को दृढ़ किया कि दयानन्द को परास्त करनेवाला अभी भूतल पर नहीं जन्मा है।

एक दिन दो उच्च कर्मचारी आकर बोले—परोपकार ढकोसला मात्र है। महाराज ने उन्हें सचेत किया, अपना पेट तो गधा भी भर लेता है। दूसरों के दुःख निवारण करना ही मनुष्यता है।

गुजरात से प्रस्थान कर परिव्राजक जी वजीराबाद आए। जहां उन्होंने सात व्याख्यान किए। जिससे अशेषनगर विचलित होने लगा। अनेक विरोधियों ने विरोध किया। बहुत-से नगर छोड़कर चले गए। तब पण्डित वासुदेव अपने जानपदों की नाक रखने आए। अल्पकाल में ही जब वे शास्त्र-समर से डिगने लगे, तो एक चञ्चल युवक ने श्रीकार (सीटी) कर दिया और विद्रोह हो उठा। कुचेष्टाकारी कङ्कर-पत्थर बरसाने लगे। महर्षि ने शीघ्रकारिता में अपने ग्रन्थ संभाले और

कोष्ठ में रखकर वे वहीं बैठ गये। जब श्री मस्करी जी को पता लगा कि उनका एक कर्मचारी पीट दिया गया है, तो वे बाहर आए और ऐसा हुंकार लगाया कि उत्पातियों में भगदड़ मच गयी। आगामी दिनों में भी वहीं व्याख्यान होते रहे और जनप्रवाह में कोई कमी न आई।

वज़ीराबाद में अमृत बरसा कर ऋषिवर्य माघ शुक्ला पञ्चमी वृहस्पतिवार १९३४ को गुजराँवाला में उपस्थित हुए। वहां 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' के एक-एक विषय की व्याख्या करना प्रतिसायं आरम्भ कर दिया। जिसके शब्दविन्यास में वे रौद्र, बीभत्स, एवं माधुर्य की भावना देकर ऐसी रोचक शैली से बोलते थे कि कभी सभा शौर्य के गुणों से उष्ण हो उठती, कभी अपने दुष्कृत्यों से ग्लानि ले आती और कभी सच्चारित्र्य से गौरवान्वित हुई झूम उठती थी। शङ्काओं के निराकरण में भी प्रतिभाशाली महर्षि चुटकलों की पुट देकर जनसभा को लोट-पोट कर देते थे।

पादरियों की अड़चनें

गुजराँवाला के उपद्रवी पादरी भी परिव्राजक दयानन्द के सम्मुख आए और आर्य धर्म के उद्देश्य पूछने लगे। आनुकम्पिक सुधारक ने उन्हें आर्योद्देश्य रत्नमाला की पुस्तिकाएँ पुरस्कृत कर दीं। पुस्तिका लघुकाय होते हुए भी अपने मन्तव्यों के स्थापन से विजातीय मान्यताओं के निरसन में अपना उपमान न रखती थी। उससे चिड़कर उन्होंने शास्त्रार्थ कराने के लिए पण्डित विद्याधर का द्वार खटखटाया। पण्डितवर्य में स्वदेश गौरव शेष था। इस हेतु उन्होने पादरी व्यक्ति को दो टूक उत्तर देते हुए कहा; "मैं आपके साथ मिलकर ऐसा कार्य नहीं कर सकता। स्वामी जी से हमारा घरेलू विरोध है। सङ्कट में हम सब एक हैं। ऐसा दुस्साहस फिर कदाचित् न कीजिएगा।"

श्री विद्याधर से विमुख हो, वे अपनी बेसुरी बांसुरी बजाने के लिये स्वयं ही महाराज के अग्रवर्ती हुवे। शास्त्रार्थ का स्थान ईसाई पाठशाला ही था, उसमें उन्होंने पत्रक (टिकिट) की व्यवस्था की थी। वज़ीराबाद मे ईंट बरसानेवाले, दुर्जन पत्रक न मिलने के कारण सभा में प्रवेश नहीं कर सके थे। उन बाहर घुमक्कड़ों को दयालु दयानन्द भीतर लिवा ले गए। वाद प्रारम्भ हुआ जो लेखबद्ध किया गया। लोकोत्तर तार्किक महर्षि ने जीवन के अनादित्व पर वैदिक मत की स्थापना और ईसाईयत की दो दिन तक कड़ी समीक्षा की। वज़ीराबादवासी समालोचनात्मक भाषणों और महाराज की करुणापूर्ण दृष्टि से चन्द्रकान्त मणि के

समान द्रवित हो गये। उन्होंने ईंट-पत्थर फेंक कर किए गए अपने दुर्वर्तन का अनुताप किया। उनमें ही वासुदेव भी था। सामान्यतः सबसे और विशेषतः वासुदेव से ऋषिराज ने कहा—वासुदेव! अवज्ञा और कठोर वचनों से एक संन्यासी का हृदय उद्वेलित कभी नहीं होता। ईश्वर आपकी यह सद्भावना सदा स्थिर रक्खे।

पादरियों का वह स्थान सङ्कीर्ण और पक्षपात पूर्ण था; इस कारण दयानन्द वाग्मी की प्रेरणा से तीसरे दिन की विवेचना का आयोजन सार्वजनिक स्थल पर किया गया। उस दिन पादरियों ने १२ बजे ही स्वामी जी को आह्वान पत्र भेज दिया, जब कि शास्त्रार्थ की वेला सायं चार बजे थी। महर्षि ने उन्हीं के पत्र-वाहक के हाथ कहला भेजा कि यह नियमों का उल्लङ्घन है। नगरवासियों को इसकी सूचना भी नहीं है। यदि समय में परिवर्तन ही अभीष्ट था, तो एक दिन पूर्व घोषणा करते। अब मैं भी सर्वोत्तम वेदभाष्य के कार्य को कैसे छोड़ सकता हूँ। मैं चार बजे स्वयं ही सभा भूमि में आ जाऊँगा।

नियत समय पर महर्षि तो पहुंच गये; पर पादरी न आए। फिर भी जन-समूह में महाराज ने बाइबिल का एक-एक उद्धरण देके ईसाई धर्म का खोखला-पन सिद्ध कर डाला।

प्रभात में श्री दयानन्द जी भ्रमण कर रहे थे, कि पादरी मैकी बोले—स्वामी जी! आप ईसाई धर्म का बहुत खण्डन करते हैं यह ठीक नहीं है। मति-मान् दयानन्द ने तुरन्त कहा—"जो कुछ आपके ग्रन्थों में लिखा है, मैं वही कहता हूं और इतना तो आप भी कहने से नहीं चूकते।"

भारत भाग्य विधाता दयानन्द की ये सब घटनाएँ गुप्तचरों द्वारा बृटिश प्रशासन को पहुँचती रहती थीं; पर उससे प्रत्यक्ष में कुछ करते न बनता था।

एक दिन योगिराज ने जनसभा में कहा; "यद्यपि मेरी अवस्था अब तरेपन वर्ष हो चुकी है, फिर भी मेरी अकड़ाई भुजलता को कोई झुका कर तो दिखाए।" इतना कहने पर जब कोई निकट न आया, तो आगे कहा, "सरदार हरिसिंह की वीरता का कारण २५ वर्ष के वयः में विवाह करना ही था।"

गुजराँवाला से चलकर महर्षि ने सं० १९३४ फाल्गुन कृष्णा १४ को लाहौरवासी उपकृत किए। वहां नवाब निवाजिश अब्लीखां की कोठी में ठहर कर वे मुसलमानी मत की ही आलोचना करने लगे। इस पर एक व्यक्ति ने आक्षेप

किया तो वे बोले : मैं जहाँ भी ठहरूँगा, वैदिक धर्म का प्रचार करूँगा । मैं ने व्याख्यान के समय नवाब महाशय को देख लिया था फिर उनको सद्धर्म का उपदेश सुनाकर पापपङ्क से क्यों न निकालूँ । मैं इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि मुझे कौन ठहरने का स्थान देता है ।

फाल्गुन के समाप्त होते-होते महाराज ने मुलतान छावनी में पदार्पण किया। वेदपाणि दयानन्द को भक्तों से भिन्न वहाँ ऐसे प्रतिपक्षी पुरुष भी मिले, जो यह प्रचार करते थे कि अंग्रेज लोग स्वामी दयानन्द को तब एक लाख रुपया देंगे, जब वे भारत की शेष जनता को ईसाई बना देंगे ।

एक दिन की घटना है—व्याख्यान के बीच गोसाइयों के एक दल ने आकर शङ्ख घड़ियाल बजाने आरम्भ कर दिये और विरोध-प्रदर्शन के लिये वे उच्च समाघोष भी लगाने लगे । इससे व्याख्यान सुनने में बहुत व्याघात पहुंचा; किन्तु महाराज उधर ध्यान न दे, अपने कलनाद को तीव्र करके अविराम भाषण करते ही रहे । अन्ततः वहां उपस्थित आरक्षियों को वे अनिष्टकारी गोसाईं भगाने पड़े। द्वितीय दिवस जब वे लोग मरने-मारने पर उतारू होगए तब व्याख्यान बीच में ही रोक देना पड़ा ।

महर्षि ने एक दिन समस्त मतों के गुरुडम मन्त्रीं का खण्डन करके केवल सावित्री (गायत्री) जप पर बल दिया । स्वास्थ्य विषय पर भाषण सुनकर एक पारसी सेठ ने पूछा—"जब आप मनुष्यमात्र को एक बताते हैं, तो हमारे साथ आहार क्यों नहीं लेते ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया जब मुसलमान आदि से खान-पान का व्यवहार आप लोग बन्द कर देंगे, तो समय आने पर आपका कथन भी स्वीकार हो सकता है ।"

योगी दयानन्द की लोग विचित्र प्रकार से परीक्षाएं लेते थे—एक दिन आर्य, मुसलमान और ईसाई उनसे एक साथ ही बातें पूछने लगे; किन्तु जब उन्होंने उनके प्रश्नों के क्रमशः उत्तर दिए, तो वे विस्मित हो उठे कि एक ही काल में हमारे उच्चारित वाक्यों को स्वामी जी ने कैसे पकड़ लिया ।

मांस-भक्षण निषेध पर वक्तृता सुनकर महाशय कृष्णनारायण ने कहा, "मुझे इससे कोई हानि नहीं हुई ।" तत्त्वदर्शी महर्षि ने तथ्य प्रकट किया कि मांस सेवन का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है । परमेश्वर के आदेश का भङ्ग सबसे बड़ा दोष है । परमात्मा जीव-जन्तु भक्षी को अपने दर्शन नही देता और उसे योग-सिद्धियां भी उपलब्ध नहीं होतीं ।

महर्षि एक दिन प्रसङ्गवश कह ही बैठे कि मैं आप लोगों की कल्याण-कामना की चिन्ता में निर्बल हो गया हूं। मेरा शरीर गङ्गातट पर विचरण करते हुवे और भी अधिक पुष्ट और मांसल था।

नृत्य-गान-राग-रङ्ग-हास-विलास में मनुष्य चेतन रहता है और सत्सङ्ग में क्यों सो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर उस ज्योतिर्महापुरुष ने यह दिया कि नृत्य-गीतादि उत्तेजक होने से कांटों के बिछोने हैं, वहां निद्रा कैसे आ सकती है और सत्सङ्ग का आनन्द तो नींद का स्वागत करता है, फिर वहां कोई क्यों न सोवेगा।

लाहौर से चलकर श्री दयानन्द सरस्वती ने अमृतसर में शिविर लगाया। आर्यसमाज अमृतसर ने विज्ञापन प्रकाशित कराके पुराण ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ का आमन्त्रण दिया। सभा स्थल छह सात सहस्र जनों से ठसा ठस भरा था। आरक्षिदल भी संरक्षण में सतर्क था। बहुत प्रतीक्षा के पश्चात् उपाह्वान पर पण्डित सङ्घ ने मञ्च पर आरोहण किया ही था कि उन्हीं घाघपण्डितो के चेलों ने सभा स्थान को धूलि वर्षण से आकीर्ण कर डाला। महर्षि भी उस लपेट से न बच सके। इस दुर्दशा को असह्य देख वे रोषावेश में प्रतिशोध के लिए उठे ही थे कि भगवान् दयानन्द ने उन्हें शान्त रहने का आदेश करते हुए कहा—"मैं एक माली के सदृश हूँ। जैसे वृक्षों की कांट-छांट में वह टहनियों की चपेटें खाता है; वैसे ही कुमत-पाखण्ड के खण्डन में मुझे भी लोग खण्डित करना चाहते हैं; परन्तु इससे यदि मैं घबराऊँ, तो आर्यसमाज वृक्ष को कैसे हरा-भरा कर सकूंगा। जो लोग आज विरोधी हैं; कुछ वर्षों में वे ही आर्यसमाज तरुवर की शीतल छाया में विश्राम कर गुण-गान करने से नहीं अघायेंगे।

इस घटना के उपरान्त दयानिधि दयानन्द के व्याख्यान मुलवह बङ्गले पर बहुत हुए। एक व्याख्या में महर्षि ने ब्राह्मणों के अधःपतन पर प्रकाश डाला। उससे अनेक व्यक्तियों के नेत्रापाङ्ग सजल हो उठे। तब तो धूलि वर्षक भी प्रशंसा का वर्षण करने लगे।

सिख मत पर आक्षेप किये जाने पर एक भक्त ने निवेदन किया कि आपके स्थान पर कुछ भक्तों के शयन करने के कारण सिख लोग अपना आक्रोश नहीं निकाल सकें, अन्यथा वे आपकी हत्या पर तुले हैं। यह वचन सुनना था कि महाराज ने उसी दिन से किसी को अपने यहां नहीं सोने दिया और कहा, "मैं जिसकी आज्ञा का पालन करता हूँ, वह ही मेरा रक्षक है।"

भक्त भोलाराम पण्डित ने मन के उद्गार प्रकट किये—प्रभो! आर्यसमाज

में सदस्यों की सङ्ख्या बहुत न्यून है, इससे क्या उद्धार होगा ? महर्षि ने ढारस बंधाया, "आप तो इस समय बहुत हैं। किसी समय मैं अकेला था। जैसे मुझ एक से आप जैसे बहुत हो गये हैं वैसे आप सभी से सहस्रों-लाखों हो जायेंगे। कार्य करना स्वाधीन है, फल ईश्वर के नियन्त्रण में है। परोपकारिता की भावना से किया गया कर्म निष्फल नहीं जाता। मेरे भीतर जो कल्याण-कामना है, उसे जगदीश ही जानता है।

अमृतसर से लुधियाना, अम्बाला होते हुए श्रावण कृष्णा बुधवार संवत् १९३५ को रुड़की में महर्षि के चरण पड़े। वहां 'ईश्वरीय आदेश' विषय की प्रतिभासम्पन्न व्याख्या की। वेद-भाष्य करने का अत्यधिक भार होते हुए भी प्रतिदिन व्याख्यानस्थल पर पहुंचने में नियत वेला का उन्होंने व्यतिक्रम नहीं किया। उनके विश्लेषणात्मक उच्च विचारों से जहां सम्प्रदायवादी तिलमिलाए, वहां ज्ञानार्थी अपनी जिज्ञासा भी शान्त करने में कृतकारी हुवे तथा कुछ एक अपने संशय मिटाकर अनुपम दयानन्द का आभार प्रकट करने में भी न सकुचाए। इन दिनों न्यून से न्यून पचास और अधिक से अधिक सौ मन्त्रों का भाष्य प्रतिदिन किया जा रहा था।

अमेरिका निवासी कर्नल अलकाट के पत्र का उत्तर भी महाराज ने रुड़की आकर ही दिया। वह पत्र उन्हें पञ्जाब में मिल चुका था। कर्नल अलकाट के पत्र से भारतीयों को बहुत प्रोत्साहन मिला।

एक दिन सत्सङ्ग के समय पत्रवाहक मुसलमान ने आकर एक सत्सङ्गी सिख को जली कटी सुनाई—पापाधम ! तनिक यह तो सोचा करो, मैं कहां बैठने लगा हूं। उसकी इस डांट पर सिख महाशय की आंखें गीली हो गईं। समदर्शी यति ने पत्रवाहक को उसी समय अटकाते हुए कहा, "हमारे यहां सब समान हैं।" सिख महोदय को भी सान्त्वना दी कि प्रतिदिन आकर संस्कारों का मार्जन करते रहो।

कन्हैयालाल वास्तुकला शास्त्री ने देशोद्धारक से कहा कि मादक वस्तु की मादकता में चित्त सर्वथा समाहित हो जाता है। यतिवर्य उसी क्षण बोले : यद्यपि तात्कालिक सङ्कल्पों में मन गड़ जाता है; किन्तु वस्तुओं का गुण विवेक नहीं हो पाता और यथार्थ बोध के लिए पारस्परिक गुणों की तुलना सर्वथा अपेक्षित है। मदकारी पदार्थ ऐसा करने में असमर्थ हैं।

पराविद्या के अभिमानी अद्वैतवादी भोद्गसिंह ने आक्षेप करते हुए यतिभूषण से कहा कि द्वैतवादी होकर आप पराविद्या से सर्वथा अबुद्ध हैं। तब चुटकी लेते

हुए श्री दयानन्द जी बोले, "भोट्टसिंह ! यदि आप ब्रह्म हैं, तो सम्मुख पड़ी मक्खी को जीवनप्रदान करके तो दिखाओ; क्योंकि ब्रह्म ही इस सृष्टि का रचयिता है।" भोट्टसिंह तो इस कथन से कुण्ठबुद्धि और निरुपाय हो, कुछ भी न बोल सका।

रुड़की आर्यसमाज का अन्तरङ्ग अधिवेशन होनेवाला था। सदस्यों ने वहाँ महर्षि को तत्काल अपना सदस्य बनाया। तब उनकी उपस्थिति से पतझड़ में वसन्त बोल उठा। देवर्षि ने सभासदों को सचेत किया कि परिषत् में हठी और दुराग्रही जनों की प्रकृति कल्याणकारक निर्णय नहीं होने देती। इससे भ्रातृभावना सर्वथा लुप्त हो जाती है। पार्षदों को सर्वथा सरल हृदयी होकर बहुमत से पारित प्रस्तावों का आदर करना चाहिए और अन्तरङ्ग के निश्चयों को कभी भी प्रकट नहीं करना चाहिए। यह ओछापन है। ऐसे मानव अपना विश्वास खो बैठते हैं।

संवत् १९३५ भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को रुड़की से चलकर आदर्श संन्यासी ने अलीगढ़ को गौरवान्वित किया। बम्बई से श्याम जी कृष्ण वर्मा उस आर्षज्योतिः के दर्शनार्थ आए। उनका आयुष् २१ वर्ष था। दो वर्ष पूर्व ही उन्होंने 'शिक्षा पत्रीध्वान्त निवारण' का गुजराती भाषा में अनुवाद कर दिया था। उनके संस्कृत व्याकरण और संस्कृत भाषण की योग्यता से विद्वत्समुदाय भी विस्मित था। सामाजिक सुधारों के पक्ष में वे धारा प्रवाह बोलते थे। अंग्रेजी में भी उनका ऐसा ही चमत्कार था। इस युवक से धर्मालाप करने पर महर्षि अति प्रसन्न हुए। जैसे ब्रह्मर्षि विरजानन्द को चिर प्रतीक्षा के पश्चात् दयानन्द हीरा मिला था; ठीक वैसे ही भारत का इतना भ्रमण करने के उपरान्त उन्हें श्याम जी कृष्ण वर्म्मा से कुछ आशाएँ बंधती प्रतीत हुईं। उन्होंने हृदय से श्याम जी को अपना शिष्य स्वीकार किया।

भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी को मूलोपदेशक श्री दयानन्द जी मेरठ आ विराजे। यहाँ अब्दुल्ला नामक एक व्यक्ति ने शास्त्रार्थ-प्रतियोगिता की पाँच मर्यादाएँ महाराज को लिखकर दीं। उन्होंने उसके कथनानुसार ही शास्त्र-चर्चा का निर्णय स्वीकार कर लिया; किन्तु एक संविदा उसमें और सम्मिलित की, वह यह कि शास्त्र-प्रवृत्ति लेख बद्ध हो। इसका मुसलमानों ने प्रतिवाद किया और बेल मंढे चढ़ने न पाई।

सनातनधर्म रक्षिणी सभा ने भी छेड़-छाड़ की। महाराज ने उन्हें २० संविदाएँ शास्त्रार्थ के लिए भेजीं, जिनमें पण्डित श्रीगोपाल ने ६ बातें परिवर्तित करने की मांग प्रस्तुत की। स्वामी जी को उससे यह आभास होगया कि ये सब

टाल मटोल करना चाहते हैं। अतः उन्होंने ला० किशनसहाय को लिखा कि यदि आप शास्त्रार्थ के इच्छुक हैं, तो नियमानुसार चलिए। इसका उन्होंने जो उत्तर दिया, उसमें अनूचान दयानन्द को वेद-बोध से हीन भी बताया गया। इसके उत्तर में महर्षि ने लिखा; मैं अपने विद्यार्थियों को भेजूँगा। वे आपके पण्डितों से वेद विषय में प्रश्न करेंगे। केवल इतने से ही दीख जायेगा--कौन कितने पानी में है। इस बात से वे तो इतने संत्रस्त हुए कि उसके उपरान्त कुछ बोल ही न सके।

महाराज के उपदेश वहां निरन्तर होते रहे जिसके परिणामस्वरूप वहां आर्यसमाज स्थापित कर दिया गया। रात्रि के नौ बजे मित्रों सहित वेणीप्रसाद आकर बोला, "हम आपके पैर दबाना चाहते हैं।" महाराज ने कहा, "पैर तो पीछे देखे जायेंगे, पहले हमारी फैली हुई टांग ही उठाकर दिखाओ, तुम्हारे बल की परीक्षा इसी में हो जायेगी।" यह सुन वे एक दूसरे की ओर देख ज्यों के त्यों रह गये।

भाषण करने के पश्चात् सेवकों सहित महर्षि अपने स्थान पर आरहे थे कि मार्ग में कुछ गुण्डे लठ लेकर बैठे दीख पड़े। भक्तों ने महाराज को सावधान किया। धैर्यधुरीण दयानन्द बोले : तुम सब क्यों डरते हो, हम सब सकुशल डेरे पर पहुँच जायेंगे।

अहो! आश्चर्य!! वे लठैत आक्रमण करने को वहां से उठ भी न सके।

उस दिव्य पुरुष का अवधान भी बहुत गम्भीर था—मित्रों समेत एक गौरी-शङ्कर जो ज्योतिष् में प्रवीण माना जाता था, श्री चरणों में उपस्थित हुआ। विश्राम के इच्छुक महर्षि बोले, "मैं २५ मिनट शयन करके आपसे वार्तालाप करूँगा।" थोड़ी देर में एक ताल्लुकेदार दर्शनों को आया। गौरीशङ्कर ने कहा कि महाराज को नींद मे गये १५ मिनिट हुये हैं। १० मिनट पश्चात् वे स्वय उठकर हम सबकी सुनेंगे।

ठीक २५ मिनट पीछे स्वामी जी के उठने ने सबको आश्चर्य में डाल दिया।
"आपके आने का क्या प्रयोजन है ?" ज्योतिषी से विनोद में महाराज बोले।
"कुछ प्राप्ति के लिए ?" ज्योतिषी ने उत्तर में कहा।

"यदि कुछ प्राप्ति की आशा थी, तो मैं कुछ भी न दूंगा।" दैष्ट्रिक महर्षि ने व्यङ्ग कसा, 'इस प्रकार आपका ज्योतिष् झूठ हुआ और यदि कुछ प्राप्त करना न था, तो आगमन व्यर्थ गया। जब आपकी विद्या आप पर ही चरितार्थ न हुई, तो किसी दूसरे पर सफल होने में क्या प्रमाण है ?"

ज्योतिषी तो सुनकर ऐसा चुप हुआ; मानो छाती पर सांप लेट गया हो।

एक दिन सेवाराम ने कहा कि यदि मैं नहर का सहायक दण्डाधिकारी हो गया; तो पहला वेतन वेद-भाष्य के लिये दूंगा। उसके दण्डाधिकारी बन जाने पर स्वामी जी का बधाई पत्र उसे मिला। वह यह देखकर सिहर उठा कि अभी मैं इस नवीन पद की सूचना किसी को भी नहीं दे पाया, तब महाराज को कैसे ज्ञात हुआ ?

मेरठ में वैदिक नाद मुखरित करके महर्षि संव्वत् १९३५ आश्विन शुक्ला ९ को दिल्ली पधारे। पांच दिन तक उपदेश करते रहे, जिसमें उन्होंने एक भविष्यद् वाणी की—मेरे अतीत में मेरा यह किया गया भाष्य विश्व का महान् उपकार करेगा।

छठे दिन व्याख्यान आरम्भ कर दिये, जिन से प्रभावित होकर दिल्ली वासियों ने भी आर्यसमाज की स्थापना कर ली।

दिल्ली नगर को शोभा प्रदान करके उस आर्ष महात्मा ने जयपुर के लिये प्रस्थान कर दिया। संयान द्वारा जयपुर स्थात्र पर पहुँचते ही स्वागत में आये जोशी रामस्वरूप जी ने निवेदन किया—"खेद है कि ठाकुर रणजीतसिंह जी का शरीर छूट गया है। हम सब ने इसी कारण सिर मुंडवाया है।" महाराज ने जोशी जी से कहा, मेरी ओर से ठाकुर परिवार को सान्त्वना दीजिएगा। मैं अजमेर से लौटकर जयपुर अवश्य आऊंगा।

अजमेर का संयान पत्त्रक ले लिया और वे उसी संयान से कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को अजमेर पहुंच गये। वहां थोड़ा ठहर; पूर्णिमा को लगने वाले पुष्कर मेले के लिये चल पड़े। वहां पहुंच धर्म प्रचार के विज्ञापन बंटवाये। तीर्थयात्रियों को सच्चे तीर्थ के दर्शन कराये। उनमें बहुत से ऋषि दयानन्द के अनुयायी बन गये और आगे से पुष्कर न आने का प्रण किया।

ईसाइयों से प्रश्न

मेले से लौटकर अजमेर में मार्ग कृष्णा चतुर्थी से वेद व्याख्याएं आरम्भ कर दीं। ईसाई धर्म की आलोचना सुनकर एक योरूपीय पादरी ने कहा, कि आक्षेप योग्य वचनों को लिखकर हमें दे दीजिए हम उसका निराकरण करेंगे। स्वामी जी ने चौबीस प्रश्न लिखे और उपायुक्त पण्डित भागराम जी के हाथ पादरियों के निकट भेज दिये। दश दिन के पश्चात् वे भारी भीड़ की उपस्थिति में

उनके उत्तर देने आये। कुछ आक्षेपों के न्यादर्श ये हैं—ईश्वर के सर्वज्ञ होते हुये उनकी रची सृष्टि वेडौल क्यों है ? जल की रचना के बिना ईश्वर का आत्मा जल पर कैसे डोल सकता है ? देहधारी आदम की भांति आयत का ईश्वर भी देहधारी प्रतीत होता है। ईश्वर ने आदम को जब पवित्र रचा, तो उसने ईश्वर की आज्ञा भङ्ग क्यों की ? ज्ञान वृक्ष का फल खाने से जब आदम की आंख खुली, तो वह अज्ञानी सिद्ध हुआ। ज्ञानी ईश्वर ने उसे अज्ञानी क्यों बनाया ? इत्यादि.........

पादरी क्रमशः आक्षेपों के उत्तर देना चाहते थे, किन्तु प्रथम आपत्ति के उत्तर में ही पुनः पुनः प्रश्न उठने पर पादरी लड़खड़ाने लगे। जब वे उचित समाधि न दे सके, तो उठकर चलते बने। जनता ने ईसाई धर्म का थोथापन भली भांति समझ लिया और वैदिक धर्म के जय जयकार से वातावरण गूंज उठा।

एक दिन ऋषिवर्य ने व्याख्यान के मध्य पुराने ढाई पन्ने दिखाते हुये कहा, कि ये धनुर्वेद के हैं। बहुत अन्वेषण पर भी इस सम्बन्ध में और कुछ नहीं मिला। यदि शरीर बना रहा, तो वेदों में से धनुर्वेद का प्रकटीकरण अवश्य कर दूंगा।

अकस्मात् भरतपुरिये चमारों के गञ में आग लग गयी। दयालु दयानन्द ने उनकी सहायतार्थ कुछ धन दिया और दूसरों को भी ऐसा करने की प्रेरणा की।

मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को यतिराट् ने मसूदा नरेश के प्रेम-पूर्ण आमन्त्रण पर उन्हें कृतार्थ किया। वे छाया की भांति महाराज के पीछे लगे रहे। उनके सान्निध्य और व्याख्यान मकरन्द से उन्हें अपने मानस के सम्पूर्ण दुर्गन्ध को सुवासित बना डाला।

मसूदा से महर्षि नसीराबाद पहुंचे और तीन दिन तक नागरिकों को वेद सुधा पिलाते रहे। चौथे दिन जयपुर के लिये नसीराबाद छोड़ दिया।

पौषकृष्णा पञ्चमी से जयपुर में मृतक श्राद्ध के प्रत्याख्यान का सूत्रपात किया। इससे जयपुराधिपति रुष्ट होगये। पहले से भी दो एक निखट्टू ब्रह्मचारियों ने जयपुर नरेन्द्र को स्वामी जी के विरुद्ध भड़का रक्खा था। जब लोगों द्वारा जयपुर नरेश से कहा गया कि आप स्वामी दयानन्द जी के दर्शन कीजिये, तो वे बोले : आप दर्शन को कहते हैं मेरी शक्ति हो, तो मैं उन्हें कुत्तों से नुचवा दूं।

श्रीप्रसाद से उपर्युक्त वृत्त सुनकर निर्भीक संन्यासी ने कहा, "आप लोग

निश्चिन्त रहिये। आपत्ति बाधाओं के कारण मैं अपने लक्ष्य का विरह नहीं कर सकता। मुझे नृप से तनिक भी तो भय नहीं है। मैं ईश्वर का अनुचर हूं, उनका नहीं।"

जयपुर के पण्डित भी अपने विद्यार्थियों को भेजकर उस लोहपुरुष से छेड़छाड़ करते थे। जब महर्षि को चाल का पता चला, तो बोले, "जाओ, तुम अपने गुरुजनों को भेज देना हम उनसे ही वार्तालाप करेंगे।"

मेरठ निवासी एक गुजराती ब्राह्मण ने रुड़की जाकर यह दुष्प्रचार कर दिया कि जयपुर नरपति ने दयानन्द को श्राद्ध के व्याख्यानों से अप्रसन्न होकर कारा में डाल दिया है। इस दुर्वृत्त की निराकृति जब तक भक्तों ने न करली, तब तक उनकी मुखाकृति विवर्ण ही बनी रही।

पौष शुक्ला प्रतिपत् सँव्वत् १९३५ को वह महापुरुष रिवाड़ी पधारे। साथ में १०,१५ पण्डित और सेवक थे; क्योंकि वेद भाष्य करने का कार्य निरन्तर चल रहा था। उन्होंने नगर से आधा मील दूर तिल्लापुर के उद्यान में अपना उतारा किया। महाराज यद्यपि राव युधिष्ठिर के आमन्त्रण पर रिवाड़ी गए थे; तथापि भोजन व्यय उनसे इस कारण स्वीकार न किया कि वे पचास ग्रामों के भूमिहार होते हुए भी ऋणी थे। हां, ३६ जातियों का काज करनेवाले बिहारीलाल ढूंसर से समस्त व्यय लेना मान लिया।

छोटे तालाब पर संयान स्थात्र (रेलवे स्टेशन) के निकट राव मानसिंह रईस की छतरियों के बीच चौकी पर अधिष्ठित होकर देव दयानन्द उपदेश करते थे। विषय प्रतिपादन में मूर्तिपूजा खण्डन, मृतक श्राद्ध विरोध, गायत्री शिक्षण, वेद का अधिकार निरूपण और महीधर भाष्य की अनुपादेयता प्रमुख थे। 'ब्रह्मा का अपनी कन्या से व्यभिचार' इस प्रचलित कथा का मिथ्यात्व सिद्ध करके उन्होंने आलङ्कारिक सत्य अर्थ का वर्णन किया। पादरी और मुसलमानों के स्वर्ग को गप्प बताकर वैदिक मुक्ति की वरिष्ठता प्रकट की और कहा; "जैसे पौराणिक हुण्डी लिखा करते थे, वैसे ही पादरी भी लिखा करते हैं।"

मृतक श्राद्ध के प्रत्याख्यान में महाराज ने कहा—"यदि वास्तव में मरे हुये को भोजन पहुंचता है और वह ही वस्तु मिलता है, जो श्राद्ध में खिलाया जाता है, तो जो लोग मांस भक्षी हैं, उन्हें थाल में मांस ही परोसना चाहिये। यदि वे नहीं खाते, तो इस से स्पष्ट हो जाता है कि अपने कर्म से स्वर्ग-नरक मिलता है। मृतक श्राद्ध से नहीं।

देवर्षि ने यह भी कहा—"मेरे व्याख्यानों में छोटे छात्रों का समाधि लग जाता है। ये मेरा साहाय्य करेंगे। बुड्ढे मेरा विरोध करते हैं, पीछे पछतायेंगे। वीर अर्जुन ने अमरीका देश के नागराजा की कन्या उलोपी से विवाह किया था, नाग कोई सर्प नहीं था।

पादरी विण्टर व्याख्यान में पञ्चमज्जूक (पेन्टालून) के कारण भूमि पर ठीक न बैठ सके, तो उनके लिए आसन्दी मगाई। जब वे उस पर निर्विकार बैठ गए, तो महाराज बोले, "पादरी महोदय ! यदि नीचे ही आसन लगाना था; तो धोती पहन कर आना था।

वेदान्ती रूडमल बोला, "जीव ब्रह्मणोरेकत्वं चेतनत्वात्, जीव और ब्रह्म, चेतन होने से एक हैं।" तब तर्क शिरोमणि दयानन्द ने उसे वैसा ही उत्तर दिया, "धूलीबूरयोरेकत्वं जडत्वात्' धूली और बूरा जड़ होने से एक हैं। इस कारण दूध में बूरा न डाल धूली मिलाकर पिया करो।"

राम और कृष्ण को अवतार मानने में दोष दर्शाते हुए महर्षि बोले : ऐसा स्वीकार करने से उनका महत्त्व न्यून ही होता है। यदि राम ने समुद्र पर सेतु बांधा, तो ईश्वर के लिए यह तुच्छ बात है: किन्तु मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। तस्मात्—राम और कृष्ण को महापुरुष मानना ही उन्हें उच्च कोटि पर पहुंचाता है।

स्वामी राधावल्लभ प्रभृति जन ऋषिराज को देखते ही कह उठे : अहो ! इतना आयत ललाट, विशाल वक्षस्स्थल, मनोरम देहकान्ति, सुपुष्ट एवं दृढ शरीर आज तक किसी का नहीं देखा। इनकी भव्याकृति और तेजस्विता तो विरोधियों को भी मोह रही है। द्विशाले की पगड़ी और स्वदेशी वस्त्रों में सात फीट से भी उच्च यह महाभाग कैसा खिल उठा है। यदि पेटू पुरुष को इनके साथ खड़ा कर दिया जावे, तो वह कितना भद्दा दीखे। वस्तुत: पेट की अपेक्षा छाती का उभार ही शरीर का सौष्ठव है।*

* रिवाड़ी की यह पूर्ण घटना आचार्य भगवान्देव जी १८ अगस्त सन् १९३६ में अन्वेषण करके लाए थे। उस समय उन्हें वहां महाशय हरसहाय, निक्का नाई, देवीसहाय महाजन, स्वामी मुक्तानन्द, स्वामी आत्मानन्द, नानकचन्द्र भार्गव, कल्याणदत्त निहान और स्वामी राधावल्लभ मिले थे, जिन्होंने ऋषि दयानन्द के दर्शन किये थे। ये सभी महानुभाव उस समय ७५ से ८० वर्ष की अवस्था में थे।

प्रथम गोशाला

यहां महर्षि ने ११ व्याख्यान किए। आर्यसमाज की स्थापना की। राव युधिष्ठिर जी को प्रेरणा देकर गोशाला का आरम्भ किया। इससे पूर्व भारत में गोशाला न थी।

गङ्गाप्रसाद को उस आर्षपुरुष ने गायत्री का शुद्ध उच्चारण कराया। जब वह उसे कण्ठ का भूषण बनाकर नगर में आया, तो ब्राह्मण ब्रुवा कह उठे, "यह ब्राह्मण गायत्री नहीं है।" गङ्गाप्रसाद तुरन्त श्रीचरणों में पहुंचा। उससे सुनकर महाराज बोले; जो इसका विरोध करता है, उसे मेरे पार्श्व ले आओ। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लिए एक ही गायत्री तथा सन्ध्या-विधान है।

हरद्वार कुम्भ

माघ कृष्णा प्रतिपत् को दिल्ली पहुँचकर तीन भाषण किये। फिर हरद्वार में लगनेवाले कुम्भ के मेले पर जाने के लिए दिल्ली छोड़ दी और माघ कृष्ण-नवमी को मेरठ ठहरे। यहीं विज्ञापन छपवाकर साथ रख लिये। सहारनपुर और रुड़की में रुककर फाल्गुन शुक्ला षष्ठी को ज्वालापुर में डेरा लगाया और प्रतिदिवस मानवों की मानस सरिता में धर्मवारि धारा बहाने लगे।

ओजखां एक सम्भ्रान्त व्यक्ति द्वारा गोरक्षा सम्बन्ध में पूछे जाने पर कर्त्तव्य विवेकी दयानन्द ने कहा; हां, गोरक्षा सर्वोत्तम है, यह सब मनुष्यों का आवश्यक कर्त्तव्य है; क्योंकि इससे सर्वाधिक लाभ होता है।

"आर्य प्रतिदिन स्नान करते हैं, इसका क्या प्रयोजन है?" ओजखां ने पुनः पूछा। भिषक् महर्षि ने उत्तर दिया, "आयुर्वेद का मन्तव्य है कि प्रतिदिन स्नान करने से बल की वृद्धि, आरोग्य की प्राप्ति और स्वास्थ्य की स्थिरता होती है।

ज्वालापुर से प्रस्थान कर धर्मरक्षक सम्राट् हरद्वार जा पहुँचे। विज्ञापन द्वारा उपाह्वान पर साधु सन्त उनके समीप आने लगे। जब आप्त दयानन्द ने उनकी वेषमात्रोपजीविका पर परिहास किया, तो वे पुटपाक की भांति भीतर ही भीतर क्रोधानल से धधक उठे। महन्तों को भी मान की चिन्ता-सन्तान ने घेर लिया, परस्पर काना फूंसी कर उन्होंने निष्ठुर पण्डितों का सङ्गम किया। सब मिलकर भी वे विद्यावारिधि दयानन्द की समानता ठीक ऐसे न कर सके; जैसे अनेक नक्षत्रों का समूह पूर्णिमा के चन्द्र की उपमा को प्राप्त नहीं होता।

एक दिन जटाजूट दो दिगम्बर साधु अपने मन की भडास निकालने सहिष्णु

दयानन्द के द्वार पर आए। उनके कटु वचनों को पीठ पीछे कर वे सौमनस्य में ही उत्तर देते चले गए। महर्षि के इस सौजन्य का दोनों साधुओं पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उसी दिन अपने लटाजाल को उतरवाकर भद्र बन गए।

आनन्दवन नामक एक अद्वैतवादी साधु, दण्ड कमण्डलु हाथ में थामे, लम्बे उज्ज्वल चोले में, दश चेलों को पीछे लगाए, आचार्य दयानन्द से लोहा लेने आए। उन्होंने उनका अभ्युत्थान पूर्वक स्वागत किया और आसन पर बैठाकर शास्त्रालाप आरम्भ कर दिया। अस्सी वर्षीय उस धुरन्धर संन्यासी ने वेदान्त और उपनिषदों के अगणित प्रमाण प्रस्तुत किये; पर मनीषी ऋषिराज ने उन सबके अर्थ उलट दिए। वार्ता करते-करते भोजन-वेला आ पहुंची; पर अभ्यागत सन्त ने कहा: जब तक निर्णय नही होगा, हम अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। शास्त्र-प्रतियोगिता मे इस प्रकार दो बज गये। अन्त में श्री आनन्दवन ने स्वयं को ही अपने अद्वैतवाद के विभ्रम जाल में उलझा पाया। और अगत्या, उन्होंने द्वैतवाद को मान लिया एव शिष्यों को भी वैसा ही आदेश किया।

जोतसिंह नाम एक निर्मले साधु ने एक दिन व्यङ्ग्य वचन बाणों से उस महान् ऋषि को बींधने की धृष्टता की। दो दिन पर्यन्त वह जलाकटा साधु अपनी टेढी चाल ही चलता रहा; किन्तु तीसरे दिवस उनके हृदय सागर को अक्षुब्ध देख पश्चात्ताप में अविरल अश्रु बहा बैठा। महाराज ने उसे सान्त्वना दी और वह दृढ आर्य बन गया।

आर्षपुञ्ज दयानन्द की दृष्टि में सुखदेवगिरि, जीवनगिरि और विशुद्धानन्द ही सब साधुओं में शिखामणि थे। दयानन्द उन्हें अपना वशवर्ती बनाना चाहते थे, जिससे वैदिकधर्म का अधिकाधिक सञ्चार हो। अतः उन्होंने कुछ लिखित प्रश्न महात्मा रत्नगिरि के हाथ उनके पार्श्व भेजे। किन्तु तीनों ही उन असहिष्णु सन्तों ने स्वामी रत्नगिरि को दोनों पक्षों का चाटुकार समझ लिया और अवाच्य वचनों से उसे इतना तिरस्कृत किया कि आगे अपने निकट आने तक का निषेध कर बैठे।

कभी-कभी महर्षि, भगवद् भक्ति में इतने विभोर हो जाते थे कि पार्श्ववर्ती जन भी रस ले उठते थे। उनमें से रामसिंह सन्त पूछ बैठे, "भगवन्! आप तो सकल तन्त्र तत्त्वज्ञ हैं, पुनः ईश-प्रार्थना की आपको क्या आवश्यकता है?" प्रभु आश्रित दयानन्द बोले, "जिसे जिस विषय का जितना बोध होता है, वह ब्रह्म के गुणों का कीर्तन उतना ही अधिक करता है और उससे उसका ज्ञान और भी उत्तरोत्तर चमकता है।"

निर्मली अखाडे के अनेक साधु उस अनोखे सन्त की सत्यवादिता पर मोहित थे। वे श्रीचरणों में प्रसन्नमुख आया करते थे। महर्षि भी उनसे प्रहसन कर लेते थे। एक दिन होठों से हंसी बखेरते हुए महर्षि बोले, "आप लोग वेदान्त सूत्रों में बाल की खाल निकालते रहते हो। आत्मवाद की छान-बीन में कौशल दिखाते हुए बूढ़े हो गए हो; परन्तु फिर भी झण्डे को नमस्कार करके अपनी जड बुद्धि का परिचय देने में तनिक भी नहीं सकुचाते।" इतना सुनते ही वे ऐसे खिलखिला कर हंसे कि लोट-पोट होते हुवे बल खाने लगे।

आधी रात गये एक वार स्वामी दयानन्द सरस्वती कभी करवट बदलते थे, कभी उठते थे, कभी बैठते थे। एक भक्त ने पूछा, "भगवन्! क्या कष्ट है?" महाराज ने गहरा श्वास छोड़ते हुए कहा, "जिधर भी देखता हूं, भारत के नर-नारी, विधवाएं और गौवें आह भरी आंखों से ताक रही हैं कि कब उनका उद्धार होगा।"

एक प्राभातिक वेला में मेरठ के आयुक्त श्रीचरणों में पधारे। उन्हें अनुभव हुआ कि भारत विभूति इस महर्षि के संरक्षण की अत्यावश्यकता है। हमारी अवेक्षा में कभी इनका यशस्वी शरीर अकाल के कराल गाल में न चला जावे, उन्होंने तब अनेक मुख्यारक्षी रक्षा हेतु नियुक्त कर दिये।

उमीदखां और पीर जी इब्राहीम ने पूछा, "महर्षे, क्या हम आर्य बन सकते हैं?" "श्रेष्ठ कर्म करनेवाला प्रत्येक आर्य है" ऋषि ने उत्तर देते हुए कहा— "आप भी वैदिक धर्म पर आरूढ होते ही आर्य बन जायेंगे।"

"क्या आप हमारे साथ खा लेंगे?" उन्होंने अपना यह सन्देह भी मिटाना चाहा।

"झूठ खाने का वैदिक धर्म में निषेध है" तथ्य प्रकट करते हुए स्वामी जी ने आगे कहा, "साथ बैठकर खाने में कोई दोष नहीं है। झूठन खाने से यदि प्रेम बढ़ता हो, तो कुत्ते खाते-खाते क्यों लड़ते हैं?" इस पर उन्हें कुछ न सूझ पड़ा।

आचार और व्यवहार से हिन्दी के प्रबल समर्थक श्री दयानन्द जी से एक सज्जन बोला कि यदि आपके ग्रन्थों का अनुवाद फारसी जैसी भाषाओं में भी हो जावे तो पञ्जाब जैसे प्रान्तों को भी शीघ्र लाभ हो। महर्षि ने उत्तर देते हुए कहा कि अनुवाद की आवश्यकता विदेशियों के लिए हुआ करती है। स्वदेशियों को अपनी भाषा सीखने में कितनी देर लगती है? वे यदि इतना भी नहीं कर

सकते, तो क्या अनुवाद किये ग्रन्थों को पढ़ सकेंगे। ऐसी भावनायें अपने धर्म में अनास्था की ही द्योतक हैं।

बम्बई से श्री स्वामी जी को अलकाट महोदय का दूरलेख मिला कि वे आपके दर्शनों के इच्छुक हैं। महाराज ने उन्हें समाचार भिजवाया कि वे अभी न आवें। कारण कि मेले के दूषित जलवायु से स्वास्थ्य विकृत हो चुका है।

महर्षि ने अपने साथियों से भी कहा कि आप लोग शीघ्र अपने घरों को चले जाइये। यहां महामारी विषूचिका के फूट निकलने का पूरा भय है। वैसा ही हुआ—मेला समाप्त न हो पाया था कि विषूचिका ने यात्रियों को अपना आखेट बना लिया।

आदर्श संन्यासी की प्रत्येक चेष्टा उल्लेखनीय थी—वे अपने डेरे पर स्वच्छता का अति ध्यान रखते थे। प्रतिदिन होम कराते और कूड़ा करकट, झूठी पत्तलें जलवा देते थे।

चतुर दयानन्द ने अपने भोजन का प्रबन्ध स्वाधीन ही रक्खा था; क्योंकि अनेक छद्मी पुरुष अनेक मिषों से उनके प्राण पखेरू उड़ा देने की टोह में रहते थे।

स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए वैशाख कृष्णा ८ सँव्वत् १९३६ को ऋषि प्रवर देहरादून पहुँच गये। कृपाराम जी ने उन्हें बङ्गालियों के बंगले में ठहराया। महाराज यद्यपि रोग मल से युक्त थे, तो भी शरणागतों को ज्ञान जल से निर्मल बनाने में सर्वदा उद्यत ही रहे। धर्मालाप में उनके ललाट से रोग-रेखा टल जाती थी।

कुछ-कुछ स्वस्थ हो जाने पर महर्षि ने अनेक विषयों की व्याख्याएँ भी आरम्भ करदीं। जिनको सुनकर ब्राह्मसमाजी पादरी मौलवी आदि किम्पुरुष उनके विरोधी हो गये। भोजन का व्यय ब्राह्मसमाजी देते थे, उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। पादरी ने उनकी व्याख्या–युक्तियों की खिल्ली उड़ाई और कहा, "दयानन्द ने निरी धूल उड़ाई है, जिससे उसका वेद भी आत्म-गोपन कर गया है।"

और देखो, मौलवी मुल्ला तो बंगले को ही अनल की जटिल ज्वाला में लपेट देने की रट लगा रहे थे। यतिराट् यद्यपि इस विराट् आघात से व्याकुल न थे; तथापि भीमसेन लेखक ने तो अशेष रात्रि सचेत होकर आंखों में ही काटी।

ब्राह्मसमाजी कालीमोहन घोष ने महाराज को भोजन का निमन्त्रण दिया, जो स्वीकार हो गया। जब कृपाराम को यह अवगत हुआ, तो वे अपने गृह से भोजन का थाल ले आए और बोले: स्वामिन्! घोष महाशय के घर महतराणी

पाचिका है; तस्मात् उनका अन्न ग्रहण न कीजिए और मेरी रूखी-सूखी रोटी का भोग लगाइये। महाराज ने ऐसा ही किया।

बम्बई से करनल अलकाट और मैडम ब्लैवट्स्की सहारनपुर आ पहुंचे। इस की सूचना महाराज को दूरलेख से मिल चुकी थी। महाराज ने भी उन्हें दूरलेख से ही अविलम्ब सूचित किया कि आप न आवें, हम सहारनपुर आरहे हैं।

वैशाख शुक्ला दशमी को भारत का यह सुपूत सहारनपुर जा पहुँचा। विदेशी महानुभाव भक्ति से उस भव्य पुरुष से मिले, जो आर्षज्ञान से एकाकी ही भारत के भाग्य का विधान बनाता जा रहा था।

भगवान् दयानन्द अपने भक्तों को साथ लिए द्वादशी के दिन मेरठ पधारे। मेरठ वासियों ने संयान स्थात्र पर आकर अलकाट और मैडम सहित श्री महर्षि का स्वागत किया और कोठी में ले गये। अतिथियों ने विदेशी अतिथियों को पृथक् कोठी में ठहराया।

करनल अलकाट और मैडम ब्लैवट्स्की आर्य बन चुके थे। उनके गौर शरीर को यज्ञोपवीत के तीन तार भी सजा रहे थे। एक दिन उन्होंने उस योगिराज से पूछा, "सुनते हैं, स्वामी शङ्कराचार्य पर-काय प्रवेश जानते थे। आपकी इसमें क्या सम्मति है?" दयानन्द यति बोले, "मैं सारे शरीर की जीवन शक्ति समेट कर शरीर के किसी भी अङ्ग में ला सकता हूं। दूसरे के काय में प्रवेश करना इससे अगला ही पग है।" अलकाट महोदय गुरुदेव के इस योग बल को देखकर लट्टू हो उठे।

कुछ दिन पश्चात् दोनों विदेशी सज्जन बम्बई लौट गए।

मेरठ से प्रस्थान कर परिव्राट् अलीगढ़ होते हुए छलेसर को पहुँचे। उन दिनों स्वामी जी का स्वास्थ्य ठीक न था। फिर भी वे धर्म-चर्चा में प्रवृत्त रहते थे। एक मास से कुछ अधिक छलेसर वास करके वे मुरादाबाद में दीख पड़े। उनके कलेवर की अट-पटी अवस्था में उनके वहाँ केवल तीन ही भाषण हो सके।

मुरादाबाद के समाहर्त्ता (कलैक्टर) स्पेडिङ्ग महोदय ने राजकर्मचारियों के हितार्थ राज-प्रजा धर्म की व्याख्या करने के लिए श्री चरणों में निवेदन किया। स्वीकृति मिल जाने पर व्याख्यान का सम्पूर्ण प्रबन्ध समाहर्त्ता ने तुरन्त कर दिया। व्याख्यान सभा में प्रवेश करने के लिये पत्रक दिये गए, जिनसे अशिष्ट पुरुष बाहर ही रहें। राज्य-सिद्धातों पर महाराज के उदात्त विचार सुन, शासक वर्ग निज को धिक्कारने लगे। वे समुज्ज्वल राजनीति के दर्पण में पक्षपातपूर्ण अपनी

आकृतियां देख पश्चात्ताप से उत्तप्त हो उठे। स्पेडिङ्ग समाहर्त्ता ने व्याख्यान्त में अत्याभार प्रकट करते हुए स्तुतिवचनों से महाराज को धन्यवाद दिया।

नमस्ते ही अभिवादन है

अभिवादन के सम्बन्ध में महर्षि एक दिन इन्द्रमन जी से बोले, "आप लोग कभी 'जय गोपाल' कभी 'परमात्मा जीते' नवीन-नवीन शब्द घड़ते रहते हैं, जिनका पारस्परिक सम्मिलन पर कोई अर्थ नहीं होता। बड़े को छोटे से, छोटे को बड़े से, मित्र को मित्र से, भृत्य को स्वामी से और स्वामी को भृत्य से मिलते समय हृदय में जो भाव उठते हैं, उनके प्रकाशन की शक्ति 'नमस्ते' इस एक शब्द में ही है। पुरा काल में 'नमस्ते' शब्द से ही भारतीय, प्राथमिक आदर किया करते थे। 'नमस्ते' शब्द वेदों में भी आता है। इस कारण उत्तम अभिवादन शैली को ही हृदयङ्गम करना सज्जनों की रीति है।" महर्षि ने आगे कहा, "इन्द्रमन जी! अपने को बड़ा समझने वाला यदि छोटे को नमस्ते कहने में सङ्कोच करता है, तो उसकी यह वृत्ति उसमें अहङ्कार को प्रकट करती है और अभिमानी मानव कभी बड़ा नहीं होता।"

श्री रामलाल जी कायमगञ्ज वासी को महर्षि ने यज्ञोपवीत देकर आशीर्वाद में कहा, "भद्र! इस ब्रह्मसूत्र की मान्यताएँ स्थिर रखना। मेरा जीवन अनेक बार कालकूट विषों के दिए जाने से डांवाडोल हो चला है। यौगिक क्रियाओं द्वारा उसे निकालने पर भी कुछ न कुछ शेष रह ही गया है। ऐसी स्थिति में यह देह अधिक नहीं चल सकेगा। यह अत्युत्तम कार्य हो गया कि मैंने अपने ग्रन्थों द्वारा आर्य सिद्धान्त स्थिर कर दिये हैं। शेष जीवन रहते भी मेरा वेद-भाष्य करने की ओर ही प्रयास है। मुझ से पीछे आप महानुभाव ही इन मर्यादाओं के रक्षक बनेंगे; ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।"

विश्वहितैषी महर्षि के इन नैराश्य शब्दों से रामलाल जी का हृदय बैठ गया।

सँव्वत १९३६ श्रावण शुक्ला १३ को भगवान् दयानन्द बदायूँ विराजमान हुए। रक्षाबन्धन के दिन जब वृद्ध जन भी रखड़ी बांधे यतिराट् के विराट् प्राङ्गण में आए, तो उन्होंने दुःखी मन से कहा, "आर्यावर्त के लोग अपनी प्रथाएँ भूलकर कहां जा बैठे हैं। प्राचीन काल में रक्षाबन्धन का यह चिह्न ब्रह्मचारियों के हाथों में राजा की ओर से बांधा जाता था। विद्या से विद्यार्थियों की रक्षा करना नृपों का मुख्य कर्त्तव्य था; किन्तु आज तो राज्य भी अपना नहीं है। विदेशियों को भारतीय बच्चों से कैसे प्रेम हो सकता है!"

एक वैद्य ने एक युवक को महर्षि के सम्मुख लाकर कहा, "महाराज ! इस बालक में भूत प्रवेश कर गया है।" इस पर वे बोले, "आप वैद्य होकर कैसे चक्र में फंसे हैं ? वैद्यक ग्रन्थों में तो ये सब उन्माद के रोग बताए हैं।"

सँव्वत् १९३६ भादों बदी द्वादशी गुरुवार को गुरु दयानन्द बरेली पहुंचे। व्याख्यानों में पुराणों की पर्यालोचना पर पादरी जनों को बहुत हंसी आती थी। महाराज ने पाश परिवर्तन किया और कहा, "अब किरानियों की कथा भी सुनिए —ये लोग अपना दोष सर्वज्ञ ईश्वर पर मंढते हैं और कहते हैं, कुमारी के पुत्र उत्पन्न हो जाता है।" यह सुनना था कि आयुक्त दूध में उबाल के समान आपे से बाहर हो उठा; पर श्री दयानन्द अन्त तक बाइबिल को ही अपने वचन-चक्र पर चढ़ाते रहे।

आयुक्त ने लाला लक्ष्मीनारायण से कहा, "पण्डित स्वामी दयानन्द जी से कह दीजिए कि ईसाई लोग आलोचना पर इतने कुपित नहीं होते, जितने हिन्दू और मुसलमान स्वमत खण्डन में हो जाते हैं। व्याख्यान में सतर्कता से बोला करें, अन्यथा व्याख्यान बन्ध हो जायेंगे।"

आयुक्त का यह कथन महाराज से कहना सर्वसाधारण का काम नहीं था। सब एक-दूसरे का मुख देखते रहे। अन्त में एक नास्तिक ने साहस किया; किन्तु उनके सम्मुख जाकर वह केवल इतना ही बोल पाया, "आयुक्त ने लक्ष्मीनारायण को बुलाया था। ये आप से कुछ निवेदन करने आए हैं।" तब लक्ष्मीनारायण भी इतना ही मुख खोल सका, "व्याख्यानों में नरमी से काम लें, तो अच्छा है।" महर्षि ने कहा, "तनिक-सी बात के लिए आप इतने घबराए हुए हैं। मैं हव्वा तो नहीं था। आयुक्त महाशय ने इतना ही तो कहा है कि व्याख्यान बन्ध हो जायेंगे।"

समीप बैठा एक पुरुष बोला, "स्वामी जी सिद्ध महात्मा हैं।"

दूसरे दिन श्री दयानन्द सरस्वती ने 'आत्मा का स्वरूप' इस विषय पर भाषण करते हुए कहा, "मेरी व्याख्याओं से मनुष्यों में खलबली मच जाती है। समाहर्त्ता अप्रसन्न होगा, आयुक्त कुपित होगा, राज्यपाल कष्ट देगा इत्यादि बातें लोग रात-दिन करते हैं किन्तु यह कोई नहीं सोचता कि दयानन्द के आत्मा को कोई विचलित नहीं कर सकता। दयानन्द का शरीर तो आज लोप कर दो; परन्तु मुझे कोई ऐसा मानुष तो बताओ, जो आत्मा का विनाश कर सकता हो। ये तन तो विनाशी हैं, एक दिन अवश्य होंगे। फिर मैं सत्य-कथन से कैसे टल सकता हूं।"·········महाराज चिरकाल तक बोलते रहे। अन्त में उन्होंने पूछा,

"क्या आज स्काट महाशय नहीं आए ?" उत्तर मिला—"आज रविवार है, गिरजाघर गये हैं।" यह सुनकर वे समदर्शी बोले, "चलो, आज उनके गिरजे में चलते हैं।"

चल पड़े। सैंकड़ों की भीड़ पीछे-पीछे चलती हुई जैसे ही गिरजा पहुंची कि स्काट महाशय तुरन्त नीचे उतर आए और आगे बढ़, भीतर ले गए। उच्च आसन दिया। उपदेश के लिए निवेदन किया। आचार्य दयानन्द ने वहां एक घड़ी वक्तृता करके मनुष्य को ईश्वर मानने में दोष दर्शाए।

पादरी हारा

संव्वत् १९३६ भाद्रपद शुक्ला ७ से ९ तक स्काट महाशय का बरेली के पुस्तकालय में आचार्य चरण दयानन्द से विवाद भी हुआ। लाला लक्ष्मीनारायण ने सभापति का आसन ग्रहण किया। तीनों व्यक्तियों के वक्तव्य को लिखने के लिए तीन लेखक नियुक्त हुए। प्रत्येक लिपि पर तीनों के हस्ताक्षर होते थे।

महाराज ने पुनर्जन्म पर विचार प्रकट करते हुए कहा : जीव और उसके नैसर्गिक गुण कर्म स्वभाव अनादि हैं। जो जीव के गुणों की उत्पत्ति मानते हैं, उनका विनाश भी उन्हें स्वीकारना पड़ेगा। क्योंकि कारण और कार्य का परस्पर सम्बन्ध है। तब यह सिद्ध करना होगा कि सत्य का जनक क्या है ? शुभ-अशुभ जो भी मनुष्य कार्य करता है, परमात्मा उसी के अनुसार उसे फल देता है और वह बिना शरीर के भोगा नहीं जा सकता।

पादरी महाशय ने इस भाषण के विरुद्ध और अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बहुत युक्तियां दीं, पर जब उनके तुणीर से निकले कोमल तीर दयानन्द वाग्मी के तर्क बाणों से कटते चले गए, तो पादरी जी ने कह दिया, "जीव और ईश्वर के विषय में हम विशेष नही जानते।" इसके पश्चात् आचार्यपाद ने एक-एक पक्ष लेकर समीक्षा करते हुए वैदिक मर्यादाओं की स्थापना की।

ईश्वर की साकारिता और सृष्टि रचना पर भी वाद आरम्भ हुआ, जिसमें पादरी महाशय को यह सिद्ध करना था कि साकार ईश्वर सृष्टि का निर्माण कैसे करता है। देहधारी होते हुए वह परमाणु और त्रसरेणु को कैसे ग्रहण करता है ? इसमें भी पादरी जी के पैर उखड़ गए।

अग्रे दिवस पादरी जी ने 'ईश्वर पाप क्षमा भी करता है' यह पक्ष लिया और कहा, "मैं यह प्रण नहीं करता कि वह दण्ड नहीं देता। उसमें दोनों ही

प्रवृत्तियां दीख पड़ती हैं।" इसकी स्थापना में उन्होंने अनेक युक्तियां दीं।

नैयायिक महर्षि ने पादरी महाशय का मत-छेदन करते हुए कहा, "पादरी जी की बातों में 'वदतो व्याघात' दोष है। दण्ड भी दे और छोड़ भी दे, यह दुरङ्गी चाल ईश्वर कभी नहीं चलता। अपराध क्षमा करने से लोग उसमें अधिक प्रवृत्त होंगे, तब ईश्वर अधर्म बढ़ानेवाला होगा।

इस प्रकार प्रतिद्वन्द्विता पर्याप्त लम्बी चली और सुखद वातावरण में ही समाप्त होगयी।

मुँशीराम का मिलन

बरेली के मुख्य थानाधिकारी स्वामी जी के व्याख्यानों से अति प्रभावित हुए। उन्होंने अपने नास्तिक पुत्र मुँशीराम से कहा कि तुम स्वामी दयानन्द के विचार सुनो और अपने उनसे कहो। मुँशीराम जी का सौभाग्य था कि वे श्री-चरणों में पहुंचे और देखते ही उधर खिच गए। स्काट महाशय को समीप बैठा देख वे और भी चकित हुए। थोड़ी देर के उपदेश ने ही मुँशीराम जी की विचार-धारा को उलटा बहा दिया। उपदेश 'ओ३म्' नाम पर हो रहा था। उन्होंने ऐसा प्रवचन प्रथम ही सुना। अब उन्हें श्री दयानन्द जी की चर्या जानने की सूझी। वे रात के ढाई बजे उठे। गाड़ी में बैठ महर्षि के स्थान पर पहुंचे, तो देखा कि वे जङ्गल पक्ष में चल दिए हैं। मुँशीराम जी दौड़ते हुए भी उन्हें पकड़ न सके। श्वास फूल गया। घर लौट आए। दूसरे दिन वे १२ बजे उठे और पहिले ही पर्याप्त मार्ग पार कर गये। उस दिन वे श्री महर्षि को समाधि-लीन भी देख सके। तब से उन्हें पूरा भरोसा होगया कि सब प्रकार की संशय-विच्छित्ति का मूल कारण ब्रह्मोपासना ही है। ओ३म् निष्ठ दयानन्द के भी सकल आवरण ईश-आराधन से ही उच्छिन्न हुए हैं।

धर्म क्या है ?

सँव्वत् १६३६ आश्विन कृष्णा चतुर्थी को ओ३म् विश्वासी दयानन्द ने बरेली से शाहजहांपुर आकर अपना शिविर लगाया। वहां सत्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत के सब मतों में जो बात एक-सी मिले, वह सत्य है। सब सम्प्रदायों में अधिक बातें असत्य ही हैं, जिन्हें त्याग देना ही श्रेष्ठ है। मुख्य रूप से धर्म ये हैं—(१) परमेश्वर पर विश्वास तथा उसकी उपासना (२) जैसा भाव और ज्ञान भीतर है, वैसा ही बाहर प्रकट करना, मानना, और उस पर आचरण करना (३) जितेन्द्रिय रहना (४) दूसरे के अधिकार पर छापा न मारना

(५) निर्बल और दीन पर दया दर्शाना। इन विषयों में सब एक हैं इस कारण ये ही कल्याणकारी और मोक्ष दाता हैं।

एक दिन उस समाहर्त्ता अलीजान ने कहा, "स्वामी जी ! सँभलकर उपदेश किया कीजिए।" महाराज भी कहां चूकनेवाले थे, बोले, "भय की कोई बात नहीं है, अब अङ्ग्रेजी राज्य है, औरङ्गजेबी नहीं।"

महर्षि पैसे-पैसे का ध्यान रखते थे। उन्हें विपणि भाव का प्रबोध भी बहुत था। एक दिन भोजन सामग्री, भीमसेन मोल लाए। उन्होंने उसका निरीक्षण किया और कहा, "आटे आदि का दाम आप से अधिक ले लिया गया है। अनेक हट्टों पर पूछ लेते, तो वस्तु उचित मूल्य पर मिलते। द्रव्य इतना उपयोगी है कि एक पैसे के अभाव में गन्तव्य स्थान का संयान पत्रक नहीं मिलेगा और यात्री यात्रा से वञ्चित रह जायेगा। इस कारण एक पैसे के व्यय में भी सावधान रहने की अपेक्षा है।"

लेखक एक दिन विलम्ब से आए तो महाराज ने कहा : भारतवर्ष के मानव समय का मूल्य नहीं समझते। इनके सम्पूर्ण कर्म असमय पर अस्त-व्यस्त होते रहते हैं। इससे कार्य में कौशल नहीं आता। समय की उपयोगिता का मान तब होता है, जबकि मरणोन्मुख प्राणी के लिये वैद्य तब आवे, जब कि वह प्राण छोड़ चुका हो। सहस्रों रुपये व्यय करके भी अब उसमें जीवन का सञ्चार नहीं किया जा सकता।

आश्विन शुक्ला द्वितीया बृहस्पतिवार को लखनऊ आकर महर्षि ने छह दिन तक जानपदों को धर्म के प्रति जागरूक किया। पश्चात् कानपुर होते हुए दशमी को फर्रुखाबाद जा पहुंचे। वहां गोरक्षा, दान का महत्त्व और धर्म का स्वरूप, ये भाषण के विषय रक्खे।

श्री दयानन्द जी इन दिनो संग्रहणी रोग से घिरे थे। गोरक्षा की व्याख्या पर उन्होने कहा, "इसपर प्रजा और राजा कोई भी ध्यान नहीं देता। गोहत्या से देश को जो हानि उठानी पड़ रही है, वह कल्पनातीत है। सब प्रजावर्ग यदि मिलकर अभियान करे; तो क्या कुछ नहीं हो सकता।"

दान की व्याख्या में वे बोले—"इस का प्रारम्भ अपने पड़ोस से ही करना चाहिये। यदि कोई अपने निकट वासी की क्षुधा नहीं मेट सकता, तो दूर देश में धन देकर वाह वाह से अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलता। जिनके समीप सम्पत्ति

नहीं है, वे अपने साथ के घरों में रहनेवालों के आधि, व्याधि, दुःख, बाधन को मधुर एवं प्रेम-पूर्ण शब्दों से शमन कर सकते हैं।"

धर्म की गुत्थी खोलने में महाराज ने अपने भक्त मानसेवी दण्डाधिकारी श्री दुर्गाप्रसाद को ही रगड़ा दिया। तब वह निवेदन करने लगा—"प्रभो ! जहां तक सम्भव है मैं निष्पक्ष होकर न्याय का अनुसन्धान करता हूँ; परन्तु किसी के मन की बात मैं कैसे जान सकता हूं।" उनके इस कथन पर महर्षि सचेत करते हैं, "जब तक पूरी विद्या और विज्ञान से व्यक्ति सम्पन्न न हो, उसे दण्डव्यवस्था करने का अधिकार ही नहीं है।" भाषण में श्री स्वामी जी ने न्यायाधीश और साक्षियों के कर्त्तव्यों पर भी विस्तृत विचार दिये।

महर्षि को परास्त करने के अनेक चाल मनुष्यों के मस्तिष्क से निकलते थे। वे आगे जाने के लिये स्थान छोड़नेवाले ही थे कि विद्यालय के प्रधान शिक्षक ने पच्चीस प्रश्न लिख कर भेज दिये और लिखित ही उत्तर मांगे। उसे आशा थी कि स्वामी जी शीघ्रकारिता में सन्देहों का निवारण नहीं करेंगे। और हम उनका पराजय घोषित करदेंगे; परन्तु उनके जीवन का तो कार्य ही यह था। उन्होंने क्रमशः समाधान लिखाने आरम्भ कर दिये। वे सब से पहले समाज में ही सुनाये गये। पश्चात् उनकी प्रतिलिपि पूछनेवाले को और छपने के लिये "भारत सुदशा प्रवर्तक" को भेज दी।

प्रश्नकर्त्ता श्री बलदेव प्रसाद हठी सिद्ध न हुये। उन्होंने उत्तरों की सत्यता न केवल स्वीकार ही की, प्रत्युत आर्यसमाज के सभासद् भी बन गये।

सेठ निर्भयराम से ऋषिसत्तम ने पूछा—"कहो सेठ जी ! आनन्द तो है ? "वह बोला हां, कृपालो ! घर में सुख-सम्पत् सभी कुछ है। बाल बच्चे भी खुश हैं।" उनके इस कथन पर स्वामी जी हँसे और वास्तविकता बताते हुये उसे सावधान करने लगे कि आत्मा-परमात्मा, धर्म-कर्म इन से भिन्न पदार्थों में हर्ष मानना अविद्या का एक लक्षण है।

मूर्ति पूजा कैसे हटे ?

फर्रुखाबाद में पण्यवीथिका का माप हो रहा था। रथ्या (सड़क) के मध्य में छोटी-सी मंढी थी। नर-नारी वहां आकर धूप बत्ती क्रिया करते थे। मदन मोहनलाल ने श्री स्वामी जी से निवेदन किया—"स्काट महाशय यहां दण्डाधिकारी नियुक्त हैं, वे आपकी मानते हैं। उनको कह कर यह मंढी यहां से हटवा दीजिये।" विवेकी उस महापुरुष ने कहा—"ऐसे कर्मों से सत्य का प्रचार नहीं

होता। यवन काल में मूर्तियों पर बहुत प्रहार हुये हैं, पर ये फिर वैसी ही बन गई हैं। जब तक ये मनुष्यों के भीतर से न निकलें, तब तक इन की कितनी भी तोड़-फोड़ की जावे, समाप्त न होंगी। हमारा कार्य तो चित्तों से प्रतिमाएँ हटवाना है।

विराट् महर्षि के समक्ष से एक देवी अपने मृत शिशु को लेकर निकली, तो उससे पूछा, "इस पर स्वच्छ मरणावरण क्यों नहीं डाला। महिला ने रुँधे कण्ठ से कहा, "महाराज मुझ निर्धना के घर ऐसा वस्त्र कहां है!" इतना सुनते ही ऋषि की आखों से आंसू गिर पड़े। हाय! यह देश कितना दरिद्र हो चुका है, जो कलेजे के टुकड़े को मैले कपड़े से लपेट कर ले जा रही है।

मुसलमानों से हित

फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर यतिराज कानपुर, प्रयाग और मिरज़ापुर ठहर द्वितीय कार्तिक कृष्णा १ को वहां से भी चल पड़े और डुमराऊ, आरा, पटना होते हुए दानापुर पहुंचे। व्याख्यान का स्थान वहां प्रथम से ही सुसज्जित था। महाराज ने यवन सम्प्रदाय की कड़ी समीक्षा की। उससे व्याहत होकर मुसलमानों ने समीप ही अपना मञ्च बनाया। आरक्षि अधिकारियों ने उसे उखड़वा दिया। परस्पर के विषाक्त वातावरण में एक भक्त ने कहा, "मुसलिम मत की तीव्र आलोचना न किया करें तो उत्तम है। यहां के सिया सुन्नी उपद्रवी हैं।" महर्षि ने दूसरे दिन अपने व्याख्यान में घोषणा की—लोग मुझे कहते हैं, मोहम्मद के बताये मन्तव्यों पर विशेष टिप्पणी न चढ़ाया करें, यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है। जिस प्रकार वेद सम्पूर्ण विश्व के लिये एक है। ऐसे ही मानव सृष्टि भी एक है। उसके किसी भी अंश में विकार रह जाये, तो वह दूसरे को भी दूषित कर देता है। इस प्रकार उनकी बातों का विश्लेषण करके उनके अज्ञान रोग का औषध भी करना ही पड़ेगा। सत्य बोध के अधिकारी वे भी तो हैं; पर वे अभी इसकी उपयोगिता नहीं समझते। मैं उनकी मूढता के कारण तथ्य का गोपन नहीं कर सकता।

अपने निवास पर आकर भक्तों से कहा: मैंने पञ्जाब के एक नगर में ईसाई प्रथा की समीक्षा के लिये विज्ञापन लगवाये, तो व्याख्यान में राजकर्मचारी ईसाई भी आए। मैंने अपनी पूर्ण शक्ति से उस दिन ईसाई धर्म की आलोचना की। व्याख्यान के अवसर पर प्रधान सेनापति लार्ड राबर्ट्स ने हाथ मिलाते हुए कहा, "जब आप हमारी ही उपस्थिति में इतने साहस का परिचय देते हैं, तो दूसरे मतावलम्बियों को तो आप कुछ भी नहीं समझते। सचमुच आपका शौर्य स्तुत्य है।"

अङ्ग्रेजों की चेष्टाएं

महाराज ने आगे कहा : हिन्दूधर्म के पर्यालोचन से जिस प्रकार अप्रसन्न होकर वे मुझे विष-पान कराते रहते हैं, मुसलमान और ईसाई तो मुझे दूर का ही समझते हैं। तब वे प्राणहारिणी किसी भी चेष्टा से कैसे चूक सकते हैं। सँव्वत १९१४ (सन् १८५७) से १९३४ तक २० वर्ष अङ्ग्रेज लोग शान्त रहे। वे भारत वासियों से संत्रस्त थे; परन्तु इतने दीर्घ काल तक भारतीयों की ओर से कोई सङ्घात न होने से वे निःशङ्क हो गये हैं और अपना शासन विस्तृत कर चुके हैं। अब सँव्वत् १९३६ है, इन दिनों अङ्ग्रेज भारत के अन्य प्रदेशों को स्वायत्त करने में प्रयत्नशील हैं। सीमान्त प्रदेशों में भारतीय जन धन का युद्ध में उपयोग हो रहा है। भारत में शिल्पकारी के अभाव से भारतीयों की अर्थ-दशा दयनीय हो चली है। अपने प्रचार अभियान में मैंने उनका ऐतिहासिक गौरव बताने का प्रबल प्रयास किया है। बहुत लोग चेतना में आचुके हैं। मूर्तिपूजन करते-करते लोगों का चेतन्य विचलित हो चुका था। अङ्ग्रेज़ों को अब यह सन्देह नहीं रहा है कि दयानन्द द्वारा भारतीय संस्कृति का प्रचार बृटिश प्रशासन के उन्मूलन का उपक्रम ही है। यह ही कारण है कि ईसाइयत के प्रचार के लिए ये बहुत दौड़धूप कर रहे हैं। इस निमित्त धन भी बहुत लगा रहे हैं। कलकत्ते में कर्नल नार्थब्रुक ने मुझे 'विद्रोही फ़क़ीर' घोषित कर ही दिया था। तब से ये वन्य व्याघ्र के समान मुझे अपना आखेट बनाने के लिए घात लगाए हुए हैं; किन्तु मेरा प्रचार-कार्य कुछ इस विधा का है कि इस पर यदि अंग्रेज प्रतिबन्ध लगाएँ, तो उन्हें अपने ईसाइयत के प्रसारण में भी अति कठिनता आ सकती है। इस कारण ये बाह्य विरोधी न होकर अन्तर्द्वेषी बने हुए हैं।

स्वतन्त्रता की तड़प

भारत को स्वतन्त्र कराने की अन्तर्ज्वाला का प्रकाश उनकी बात-चीत से ही लगता था—महाशय अनन्तलाल ने कहा, "भगवन्! पुष्प तोड़ने से तो आपने मुझे रोक दिया था और अब आपकी इस मोरछाल से मक्खी उड़ाने में क्या हिंसा नहीं है?" भारतात्मा दयानन्द बोले : नाम मात्र की दया से आप जैसे भीरु मनुष्यों ने भारतवर्ष का सत्यानाश कर दिया है। मक्खी-मच्छर की दया मानने-वाले भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में क्या कर सकेंगे?"

इन दिनों किसी क्षण भी भारत में क्रान्ति हो जाने की सम्भावना थी। सीमान्त प्रदेश में अंग्रेजों का अपने राज्य विस्तार के लिए युद्ध में भारतीयों का

सहयोग लेना स्वदेशभक्तों को खल रहा था। महर्षि दयानन्द फूट डालनेवाले अनेक सम्प्रदायों की दुष्प्रथाओं को हटाकर सब को एकमत करने में लगे हुये थे। उन्हें अपनी पीठ पर देख स्वदेशी समाचार पत्र भी उस काल के उपराज (वाइसराय) लिटन पर व्यङ्ग्य वाणी वर्षण करते हुये, यह बात अभिव्यक्त कर रहे थे कि भारतवासी अपने जातीय और धार्मिक भेदों को भुलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध खड़े हो जायें। इस सङ्घर्ष को देख बृटिश प्रशासन ने उन्हें दबाने के लिये मुद्रण अधिनियम बनाए थे।

एक दिन जोन्स महाशय कुछ पादरियों के साथ भगवच्चरणों में उपस्थित हुए और बोले, "हमें भी कुछ उपदेश कीजिए।" महाराज तो मनुष्यमात्र के लिए एक ही धर्म मानते थे। उनके चित्त में भी उन्होंने वैदिक कर्म का ही बीज बोया। जब महर्षि उन्हें गोपालन के महत्त्व समझा रहे थे, तो उन्होंने वहीं गोमांस भक्षण न करने का व्रत ले लिया।

महर्षि दूसरे के मन के भी पारदर्शी थे—एक व्यक्ति ने पूछा, "उपासना में चित्त क्यों नहीं ठहरता ?" महर्षि की वाणी ने कहा, "भङ्ग का एक लोटा और अधिक पी लिया करो।"

वह मनुष्य भङ्ग व्यसनी था, सुनकर लजा गया।

दूसरा बोला—"श्रीमन् ! मुझे योगाभ्यास सिखा दीजिये।" महाराज ने कहा—"दो विवाह कर चुके हो, एक और करलो। योग का साधन पूरा हो हो जायेगा।" इस प्रकार अपने पर कटु कटाक्ष होते देख वह भी चुप हो गया।

दयानन्द सर्वथा निरभिमानी थे। एक सज्जन ने कहा—"प्रभो आप तो ऋषि ही हैं।" महाराज के मुखारविन्द से वाक्य निकला—"भद्र ! यदि मैं महर्षि कणाद के समय होता, तो मुझे लोग पण्डित भी न कहते। ऋषियों के अभाव में ही आप लोग मुझे ऐसा कह रहे हैं।

काशी में सातवीं वार

दानापुरवासियों को ज्ञान दान देने के उपरान्त संव्वत् १९३६ कार्तिक शुक्ला सप्तमी गुरुवार को काशी नगरी में ऋषिराज का सप्तमवार शुभागमन हुआ। आते ही शास्त्रार्थ के लिये विज्ञापन दिए गए। जब पर्याप्त प्रतीक्षा करने पर भी कोई टस से मस न हुआ, तो उन्हें फिर सूचित किया गया। इस से वे गृह गुहा में ऐसे लुके जैसे वनराज से संत्रस्त कोई क्षुद्र जन्तु छुट-पुट झुरमुटों में आत्म-गोपन कर लेता है।

अंग्रेजों के ढङ्ग

ब्राह्मण कहे जानेवालों ने जब शास्त्रार्थ का उपाह्वान स्वीकार न किया, तो महाराज ने व्याख्यानों का कार्यक्रम बनाया। वे मुहर्रम के दिन थे। दयानन्द यति ने 'सृष्टि' विषय की व्याख्या करनी थी। काशी पण्डितों ने कुचाल चल कर दण्डाधिकारी श्री 'वाल' से कहा कि दयानन्द सरस्वती को भाषण न करने दीजिये अन्यथा नागरिक शांति भङ्ग जायेगी। ऐसे किये जाने के प्रतिरोध में प्रथम तो स्वामी जी ने 'वाल' महाशय को ही पत्र लिखा। जब कोई उत्तर न आया, तो उच्चायुक्त को सूचित किया। उसने श्री 'वाल' के निर्णय को ही उचित ठहराया। इस गतिरोध में आर्यमित्र, स्टार, पायोनियर, थियोसोफिस्ट, समाचार पत्रों ने उच्चायुक्त की नितान्त निन्दा की। उसके परिणाम स्वरूप 'वाल' महाशय ने स्वामी जी को सन्देश भेजा कि अब वे अपने उपदेश आरम्भ कर सकते हैं।

भगवान् दयानन्द की वैदिक प्रचार प्रणाली से जहां भारतीयों के मिथ्यावाद का गढ़ ढह रहा था, वहां बृटिश प्रशासन की भित्ति का आधार भी हिल रहा था। वे नहीं चाहते थे कि स्वामी दयानन्द जी के व्याख्यान हों; किन्तु जन-जागरण के कारण समाचार पत्रों द्वारा प्रबल विरोध होने पर उन्हें अपना अध्यवसाय हटाना पड़ा। बृटिश प्रशासन ने भी यह सोच लिया कि भारतीयों का क्रान्ति दल भी स्वामी दयानन्द के पक्ष का ही अनुगमन कर रहा है। अगत्या, कोई दूसरा उपाय ही सोचना पड़ेगा। जिससे न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।

पहले भी उसने क्या किया, सन्देह बना ही है। आर्षपुञ्ज महर्षि को संग्रहणी ने जकड़ लिया था, अब उनके मसूढ़ों और गालों में शोथ भी रहने लगा।

भारत विधाता की ऐसी स्पन्दन दशा को देखकर 'थियोसोफिस्ट' ने उनसे अपना आत्मचरित लिख भेजने की अभ्यर्थना की, जो उन्होंने स्वीकार करली।

वेदाङ्ग प्रकाशों का लिखना भी अब से आरम्भ हो गया। माघ मास में सबसे प्रथम 'वर्णोच्चारण शिक्षा' को लिया। पश्चात् सन्धि विषय, नामिक, कारकीय, सामासिक, स्त्रैण ताद्धित, अव्ययार्थ, आख्यातिक, सौवर, पारिभाषिक, धातुपाठ, गणपाठ उणादिकोष और निघण्टु इन १४ भागों की रचना की।

वैदिक यन्त्रालय की स्थापना

महर्षि ने अपने ग्रन्थों को सुव्यवस्थित करा देने के लिए माघ शुक्ला द्वितीया सँव्वत् १९३६ को वैदिक यन्त्रालय की स्थापना लक्ष्मीकुण्ड पर की और वहां ही सायं ६ बजे से ८ बजे तक व्याख्यान आरम्भ कर दिये।

'संस्कृत वाक्य प्रबोध' की रचना फाल्गुन शुक्ला ११ को समाप्त करदी। फाल्गुन पूर्णिमा तक 'व्यवहार भानु' भी लिख दिया गया। पश्चात् 'गोतम अहल्या की कथा' भी लिखी।

चैत्र शुक्ला षष्ठी सँव्वत् १९३७ तक महाराज के वहां २० भाषण हुए तथा आर्यसमाज मन्दिर का शिलान्यास भी कर दिया गया।

लखनऊ के नगरवासियों में वैदिक ज्ञानधारा प्रवाहित करने के लिए महर्षि ने सँव्वत् १९३७ वैशाख कृष्णा एकादशी के दिन काशी को अवकाश दे दिया। लखनऊ में स्वामी जी महाराज ने मोती महल को अपनी उपस्थिति से स्वामित्व प्रदान किया। स्थान की सुषमा को देखकर रामाधार आदि भक्त बोले, "पूज्य महर्षे! ऐसा भवन यदि आर्यसमाज का भी हो, तो क्या ही अच्छा हो।" ऋषि ने उन्हें प्रेम भरे शब्दों में कहा, "आप महानुभाव यत्न करके जब कोठी के स्वामी दिग्विजयसिंह को अपना बना लेंगे, तो ये सब प्रासाद आर्यसमाज के ही हो जायेंगे। इसी प्रकार आप प्रत्येक व्यक्ति से सौहार्द्यपूर्ण वार्तालाप करें। वे यदि कटुवचन भी बोलें, तो उन्हें सहते चलें। अन्त में वे आप ही अनुगामी बन जायेंगे।

महाराज एक दिन व्याख्यान करके सरयूदयाल आदि के साथ अपने शिविर पर आरहे थे। एक जीर्णदेहा वृद्धा ने मार्ग में कहा, "महाराज! मैं कई दिन से भूखी हूं। मेरा कोई नहीं है, जो मुझे दो टूक दे सके। भगवान् तेरा भला करेगा। आजका अन्न तो दिलादे। इस विषम दशा में माता को देख दयार्द्र चित्त दयानन्द जी एक पग भी आगे न धर सके। उसके सब वस्त्र भी जर्जरित थे। करुणानिधान का कण्ठ भर आया। भक्तों से कहा, "देश की दुर्दशा देखी नहीं जाती। इस भिखारिन को यह भी चेतना नहीं रही कि मैं जिसके आगे हाथ पसार रही हूं, वह स्वयं ही दूसरों पर आश्रित है। (महाराज ने उसे प्रचुर सामग्री दिलादी)

पूज्य महर्षि का स्वास्थ्य यहां भी ठीक न था।

वैशाख शुक्ला एकादशी को फर्रुखाबाद आकर उन्हें पता चला कि आर्यसमाज के एक सदस्य को उद्दण्ड लोगों ने पीट दिया था, इस पर विशेष अभियुक्त को सदस्यों ने स्काट महाशय द्वारा दण्ड दिलाया। इस घटना पर रोष प्रकट

करते हुए श्री महर्षि ने स्काट महाशय और सभासदों से कहा, "चोट पहुंचानेवाले को इस प्रकार से दण्ड देना आपके गौरव को ठेस पहुंचाता है। आर्यों ने पाषाण हृदयों को भी पिघलाना है। महात्मा जन तो घातक प्राणी को भी दुःखी देखकर सिहर उठते हैं। इस आश्रम में आकर प्रत्येक प्राणी को समदृष्टि से देखा जाता है।"

काशी नरेश शिवप्रसाद के आक्षेपों के उत्तर में महर्षि ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया गुरुवार को 'भ्रमोच्छेदन' नामक पुस्तक का प्रकाशन करा दिया।

फर्रुखाबाद से आषाढ़ बदी नवमी को मैनपुरी पहुंच कर यतिराट् ने बहुत भाषण दिए। वहां से आषाढ़ शुक्ला प्रतिपत् को मेरठ आ विराजे। यहां आते ही उनके व्याख्यानों का तांता लग गया। सूक्ष्मेक्षिका से उन्होंने विचारा कि यावत् स्त्री जाति का सुधार नहीं होगा, तावत् मनुष्यों के कल्याण की जो आशा की जाती है, वह सर्वांश में पूर्ण नहीं होगी। माता लोरियों और थपकियों में ही शिशु में वह संस्कृति भर देती है, जो आजीवन मानव हृदय मन्दिरों को उल्लास से भरे रखती है। चिर प्रतीक्षा के पश्चात् महर्षि को एक देवी मिली, जिसका शुभनाम रमाबाई था। वह संस्कृत में परम विदुषी थी। महाराज ने उससे स्पष्ट कहा : आप ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्री जाति का उद्धार कीजिए। गृहाश्रम की अनेक जटिल समस्याओं में उलझकर उपकार का अभिलाषी होता हुआ भी मानव विशेष लाभ नहीं पहुँचा पाता। यौनवृत्ति से परिवृत पुत्र पौत्र-परिवार के पारावार की उर्मियों में फसकर वह वहीं उच्चावच कल्लोल करता रहता है। पर निकल नहीं पाता।

तरुणी रमा ने आयुष् पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहने में अशक्यता प्रकट की। जब वे कलकत्ता जाने लगीं, तो स्वामी जी ने उन्हें अपने ग्रन्थों की एक-एक प्रति प्रदान की।

दो ही उद्देश्य

भारत के सौभाग्य रक्षक भगवान् दयानन्द जी का सम्पूर्ण क्रिया कलाप स्वराज्य की प्राप्ति और उसे निरन्तर स्थिर रखने की दृष्टि से ही हो रहा था। इसका आभास जब एक छोटे समाहर्त्ता तक को हो सकता है, उच्च अधिकारियों को क्यों न होगा। इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने कहा कि व्याख्यान सुनकर एक स्थान के समाहर्त्ता बोले, कि "आपके भाषणों पर यदि भारतवासी आचरण करने लग जावें, तो हमें यहां से अपना बिस्तर बोरिया बांधना पड़ेगा।" महाराज तो पूरे कूटनीतिक थे, उसी समय उससे कहा, "आप मेरा आशय सर्वथा नहीं समझे।

मैं चाहता हूँ कि हमारे भारतवासी भी आपके समान सुशिक्षित, योग्य, बुद्धिमान् बन जावें, जिससे वे सच्चा सुख भोग सकें।"

इस प्रकार की योग्यता सम्पादन करने में सौराज्य लिप्सु उस महर्षि ने कितना तपस् किया था, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने शरणागतों से कहा; "बद्रीनारायण में रहकर मैंने भगवती गायत्री का जपानुष्ठान किया था।"

पठन वेला की चर्चा सुनाते हुए बोले : जब कभी रात को पढ़ने के लिये तैल न मिलता था, तो मैं दुकानों के दीवों की लौ में बैठकर पढ़ा करता था।

परमहंस वृत्ति का वर्णन करते हुए कहा : ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से तप्त तवे की भांति सन्तप्त रेत पर मैंने दोपहरी के दिन विताये हैं। तुषारराशि में परिणत पर्वतों के पाषाणों और गङ्गापुलिन पर पौष मास की रातों के पाले नग्न निरन्न सहन किये हैं।

योगिदयानन्द को योगदर्शन की प्रातिभ सिद्धियां भी उपलब्ध थीं। शिब्बामल से एक दिन बोले, "मार्ग में आज आपको सर्प दीखा और आप डर गये।" उसने इस तथ्य को स्वीकार किया। जब वह जाने को हुआ, तो कहने लगे, "साथ में छाता रखते तो भीगने से बच जाते।" उस समय वर्षा के लक्षण न थे; पर मार्ग में ऐसी धारासार वर्षा हुई कि वह बहुत ही कठिनता से घर पहुंच सका।

कर्नल अलकाट और मैडम ब्लैवट्स्की अपनी अहङ्कारिता में महाराज के सिद्धान्तों को छोड़ चले। वे पहिले थियोसोफिकल सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा बनाने के लिये उद्यत थे, जब महर्षि ने देखा कि इनके विचार वेद से भिन्न हैं, तो उन्हें थोड़े समय के लिये मेरठ उतरने की सूचना दी। वे उपराज रिपन से मिलने शिमला जा रहे थे। मेरठ में स्वामी जी से सम्मिलन के पश्चात् ससम्मान उन्होंने आश्वासन दिया कि वे आगे से किसी आर्यसभासद् को अपनी थियोसोफिकल सभा का सदस्य बनाने में प्रयास नहीं करेंगे।

सँम्वत् १९३७ भाद्रपद शुक्ला १२ को परिव्राजक जी ने मेरठ से अपना आसन उठाकर मुजफ्फरनगर में स्थिर किया। श्राद्धों के दिन थे। मृतक श्राद्ध के खण्डन किये जाने पर निहालचन्द ने पूछा, "पूज्य स्वामिन्! यदि पूर्व पुरुषाओं की सञ्चित समृद्धि को पुत्र पौत्र श्राद्ध कर्म में लगावें, तो उससे उस पुरुष को लाभ क्यों नहीं ?" धर्म के सीकर छिटकाते हुए ऋषि बोले : अपने ही किये कर्मों का फल अपने को मिलता है। दूसरों का नहीं। यदि आपकी बात स्वीकार कर

ली जावे, तो उस सम्पत्ति से दुष्कर्म करने पर पाप भी पूर्वजों को ही लगेगा। पीछे छोड़े गए धन का सन्तान प्रायः दुरुपयोग ही करते हैं।"

"स्त्रीशिक्षा से नारियों में दोष ही बढ़ेंगे ?" इस वाक्य पर उन्होंने कहा : शिक्षण से यदि दूषण बढ़ते हैं, तो पुरुष भी दुष्ट हो जाते। पढ़ाई तो सभी को सत्पथ पर ही लाती है। किसी का अच्छा वा बुरा बनना आचरण वा अनाचरण पर आश्रित है।

मुजफ्फरनगर में इस व्याख्यान करने के उपरान्त पुनः दयानन्द यति मेरठ लौट आये। आश्विन कृष्णा चतुर्दशी के दिन आर्यसमाज के द्वितीय वार्षिकोत्सव पर उन्होंने जनता को सावधान किया कि आर्यसमाज का विलय थियोसोफिकल सभा में कदाचित् न करना। उसमें उत्पन्न विकारों का बखान करते हुये ब्लैवट्स्की के चमत्कारों की भी स्वामी जी ने आलोचना की।

आर्यजनों को चेतावनी

उष्ण निश्वास छोड़ते हुये ऋषि ने अन्तिम भाषण में यह भी कहा; जब कभी आप पार्षदों को संशय उत्पन्न हो जाने पर मेरी आवश्यकता अनुभव होती है मैं चला आता हूँ; किन्तु अब मेरा शरीर विषपान से खोखला हो चला है। यह एक दिन आपको देखने को न मिलेगा। अब आप अपने सहारे सब काम करना सीखो। समिति के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रवल श्रम से मनुष्यों के दुर्गुणों में ध्यान न देकर सद्गुणों की उन्हें शिक्षा दे। उन्हें आप सङ्गठन में प्रवेश योग्य बनावें। प्रति-दिन स्वाध्याय करके अपनी शङ्का मिटाते हुये आर्य-परम्परा को स्थिर रक्खें। मेरे द्वारा आरोपित यह आर्यसमाज उद्यान फूलेगा, फलेगा। आप में से ही ऐसे महात्मा निकल आवेंगे, जो इस वाटिका को अपने प्राणार्पण से सींचेगे। उत्तरोत्तर इसकी वृद्धि होगी; परन्तु मैं नहीं देख सकूंगा।

युग प्रवर्तक के इन शब्दों से आर्यजनों की आंखें भीग गयीं। उन्हें अपने प्रभु दयानन्द पर पूर्णात्मना विश्वास था कि वे योगीश्वर हैं। उनका कथन मिथ्या नहीं हो सकता।

मेरठ वासियों को प्रगाढ़ अवसाद में छोड़, आजानु बाहु श्री दयानन्द जी देहरादून की ओर प्रस्थान कर गये। संयान सहारनपुर पहुंचा। देहरादून के लिये संयान अभी मञ्च पर नहीं आया था। उसकी प्रतीक्षा में महर्षि अपना

आसन स्थान मञ्च पर ही किये रहे। लक्ष्मी ज्योतिषी ने कहा—"मैं सब प्रश्नों के उत्तर ज्योतिष के आधार पर ही देता हूं और वे ठीक निकलते हैं। महर्षि ने प्रतिवाद करते हुये कहा; काकतालीय न्याय से आपके वचन कभी कभी ठीक हो जाते हैं। यदि फलित शास्त्र सत्य होता, तो जैसे गणित अपने रूप में कहीं कभी धोखा नहीं खाता; ठीक वैसे ही रेखा सामुद्रिक ज्योतिष् भी अक्षरशः यथार्थ होना चाहिए। उसमें कदाचित् त्रुटि न हो; पर ऐसा नहीं होता।

एक भक्त ने पूछा—"महाराज! जन्म के समय सूतक-विषय में आपका क्या मन्तव्य है? स्वामी जी ने कहा: बच्चे की माता को केवल एक दिन अशुद्धि रूप सूतक है। पिता को इतना भी नहीं। दस दिन तक अपवित्र मानकर अग्नि-होत्र आदि शुभ कर्मों को भी लोग छोड़ देते हैं, जिनमें एक दिन का भी व्यवधान नहीं चाहिये। किन्तु आश्चर्य है कि लोग चोरी, मिथ्याभाषण आदि का त्याग नहीं करते। इस प्रकार शुभ छूट जाता है, अशुभ सदा चिपटा रहता है।

भोलानाथ ने निवेदन किया—"भगवन्! जैनसमाज ने आपके विरुद्ध प्रचार करके स्थान-स्थान पर विज्ञापन भी चिपका रक्खे हैं। वे अपने चित्त में किसी षड्यन्त्र की आशाएं संजोये हुये हैं। तब भोलानाथ से बोले—स्वर्ण को जितना तपाते हैं वह चमकीला ही होता है। इसी प्रकार लोग मुझे जितना कष्ट देना चाहते हैं, उतना ही अधिक मुझ से सत्य का प्रकाश होता है। तोप के मुखाग्र पर रखकर भी कोई मुझे वेदनिहित कथन से विचलित नहीं कर सकता। विज्ञापन तो धमकी मात्र हैं। जैनियों के सकल ग्रन्थों को देखकर मैं अब इनकी पोल को समझता हूं।

देहरादून के लिये संयान के मञ्च पर आते ही मस्करी दयानन्द उस में बैठ गये। संयान के प्रस्थान पर ही भक्त वहां से लौटे।

सँव्वत् १९३७ आश्विन कृष्ण चतुर्थी को देहरादून पहुँचकर आर्ष महापुरुष के ज्योतिष्किरण स्थानीय जनों को आलोकित कर उठे। विभिन्न मतों को धूलिधूसर होते देख पादरी मौलवी भी अपनी मान मर्यादाएं बचाने के लिये महर्षि के डेरे का चक्र लगाने लगे; परन्तु उनकी धर्मभित्ति तो रेत पर खड़ी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह धड़ाम से गिर पड़ी।

प्रथम रूपित्र

लोगों को आत्मसात करनेवाले उस विरक्त व्यक्ति ने अब तक अपना रूपित्र (चित्र) नहीं लेने दिया था; किन्तु देहरादून के भक्तों का आग्रह वे टाल न

सके। एक रूपित्रिक ने उनकी छवि आसन्दी पर बैठ कर उतारी। उस समय महर्षि के सिर पर पगड़ी, गले में दुपट्टा, दाहिने हाथ में छड़ी। बांया बाहु घुटने पर। पैरों में खूंटीदार खड़ाऊं। शरीर पर लम्बा अङ्गरक्षक और धोती थी।

मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी को देहरादून के अधिवासियों में धर्म-सरिता प्रवाहित कर वे मेरठ पधारे और चार दिन ठहर कर आगरे के लिये प्रगमन कर गये।

आगरे में एक नास्तिक बङ्गाली, सङ्गियों को साथ लिए, व्याख्यान सुनने गया। व्याख्यान के अन्त में उसने कुछ प्रश्न किये। साथी यह देखकर विस्मित रह गये कि उसकी सारी विडम्बनाएं एक ही झटके में ऐसी दूर जाकर पड़ीं, जैसे आंधी के झोंके से माधवी लता के पुष्प बिखर पड़ते हैं।

सभ्यता निर्देश

विशप महाशय के साथ स्वामी जी उनका गिरजा देखने गये। एक ईसाई ने प्रवेश-द्वार पर कहा—"पगड़ी उतारकर भीतर जाइये।" महाराज बोले—"हमारे देश में इसे ले जाने का आदेश है। यदि कहो, तो जूता छोड़ सकते हैं।" उसने कहा—"दोनों ही रखिये।" ऋषि ने वैसा न किया और बाहर से ही जो कुछ दीखा, देखकर चले आए।

वेदों का विचित्र भाष्य करनेवाले महर्षि के वेदभाष्य का लेखन निरन्तर चल रहा था। जब किसी मन्त्र के अर्थ में उन्हें शङ्का हो जाती, तो वे वहां से उठ, कोठरी में जा, समाधिस्थ हो जाते थे। कुछ काल पश्चात् आकर लेखक भीमसेन और ज्वालादत्त से पहले वाक्यों को कटवाकर उनके स्थान में आत्म-प्रेरित ज्ञान का लेखन कराते थे।

आगरे में महर्षि ने गो-संरक्षण पर भी भाषण किया। अन्त में 'गोकृष्यादि-रक्षिणी' सभा स्थापित की। आगरा में ही 'गोकरुणा निधि' की रचना करके बहुत सी पुस्तिकाएं वहीं विक्रय करादीं।

सङ्घटन कण्डिका समाप्त

राजस्थान कण्डिका

देशीय राज्यों में पर्यटन

ऋषिराज का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर शिथिलता पर ही था। ऐसी दशा में उन्होंने, भारत स्वातन्त्र्य में भारतीय अपना योग अधिक से अधिक दे सकें, अपना मुख देशीय राज्यों की ओर फेर दिया।

सँव्वत् १९३७ फाल्गुन शुक्ला दशमी को श्री दयानन्द भास्कर भरतपुर में उदित हुए। दस दिन तक उपदेश करने के पश्चात् कुछ समय जयपुर ठहर कर वैशाख शुक्ला सप्तमी सँव्वत् १९३८ को अजमेर चले गए। वहां सायं ७ से ९ तक विभिन्न विषयों की व्याख्याएँ होती थीं। दो घण्टे के इस लम्बे काल में श्रोतृ जन मधुलोभी भ्रमरों के समान उपदेशामृत पान करते रहते थे।

सच्चे मनुष्य

अद्वितीय उपदेष्टा महर्षि दयानन्द के व्याख्यानों से वहां की मस्जिद का मुल्ला भी प्रभावित हुआ। एक दिन एक[1] पौराणिक ब्राह्मण जिन्होंने धर्म ग्रन्थों का बहुत अध्ययन किया था, उस मुल्ला के द्वार पर गये और बोले, "मैंने अपने मन्तव्य साहित्य के पश्चात् जब मुसलमानों के मत पुस्तकों का अनुशीलन किया, तो मुझे उनमें आस्था हो उठी। इस कारण मुझे मुस्लिम सीमा में दीक्षित कर लीजिए।" मुल्ला जी बोले, "भलीभांति सोच लीजिए। यवन बन जाने के अनन्तर कभी आपको पछताना न पड़े। स्वामी दयानन्द यहां आए हुए हैं। पहिले उनसे मिलकर संशय निवृत्त कर लीजिए। यदि फिर भी आप इस सम्प्रदाय में आना चाहेंगे, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक अपनी प्रथा की दीक्षा दे दूंगा।" वे ब्राह्मण स्वामी जी के चरणों में गए। स्वामी जी ने उन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने को दिया और मौखिक रूप से भी अनेक संशय जाल को उखाड़ फैंका। १५ दिन उपरान्त वे पुनः मौलवी महोदय की मस्जिद में गए और अति हर्ष के साथ उन्होंने मुल्ला

[1] गुरुकुल कुरुक्षेत्र के स्नातक तथा वैद्य श्री ब्रह्मानन्द जी, जो जोधपुर आर्य समाज के मन्त्री भी रहे, के दादा जी ही ये ब्राह्मण थे।

जी का धन्यवाद किया कि उन्होंने सत्परामर्श देकर उन्हें बचा लिया। मौलवी ने कहा : देवता जी ! मैं भी स्वामी दयानन्द के उपदेशों से आकर्षित हूँ और अब नाममात्र को ही इन खोखले लोगों का अनुचर रह गया हूं। मैंने आपके विचार दृढ करने के लिए ही आपको वहां भेजा था।

भक्त लेखराम

मोहियाल वंश के भूषण, पण्डित लेखराम उस अनुपम दयानन्द की ख्याति सुनकर श्रीचरणों में पञ्जाब से अजमेर पहुंचे। उन्होंने पूछा : भगवन् ! आकाश और ब्रह्म दोनों ही व्यापक हैं; फिर वे एक दूसरे में कैसे समा गए ?

"एक पत्थर में पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश पांचों हैं, इनमें जो-जो, जिस-जिस से सूक्ष्म है, वह-वह उस-उसमें प्रविष्ट है। आकाश और ब्रह्म इन दोनों में ब्रह्म अधिक सूक्ष्म है: अतः ब्रह्म आकाश में भी व्याप्त है। आकाश व्याप्य है और ब्रह्म व्यापक है।" यह उत्तर देकर स्वामी जी ने आगे कहा, "आप यथेष्ट पूछकर संशय मिटा लीजिए।" तब उन्होंने दश प्रश्न पूछे; किन्तु निम्न प्रश्न ही सोत्तर उन्हें स्मरण रहे —

"जीव और ब्रह्म के भेद में प्रमाण दीजिए।" लेखराम ने पूछा।

"यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय दोनों का भेद निरूपण करता है।" ऋषि ने उत्तर दिया।

"मुसलमान और ईसाइयों की शुद्धि क्या कर लेनी चाहिए ?"

"हाँ अवश्य करनी चाहिए", इतिहासवित् महर्षि बोले "ये सब पहले आर्य ही थे।"

"विद्युत् क्या पदार्थ है और कैसे प्रकट होती है ?" वैज्ञानिक प्रश्न पूछा।

"विद्युत् अग्नि से विरोधिनी अनेक कार्य साधिका, प्रकाशमान पदार्थ है, जिसकी अभिव्यक्ति रगड़ से होती है। बादलों की विद्युत् भी वायु और बादलों की रगड़ से ही उत्पन्न होती है।" महर्षि ने स्वोपज्ञ उत्तर दिया। अन्त में उन्होंने एक बात यह कही कि २५ वर्ष से पूर्व विवाह न कराइयेगा। "महाराज ! अपना कोई स्मृति चिह्न तो दे दीजिए" तब उन्होंने लेखराम जी को अष्टाध्यायी प्रदान की और वे पुस्तक लेकर उसी दिन ज्येष्ठ बदी ४ संव्वत् १९३८ को श्रीचरणों में माथा टेक, पञ्जाब लौट आए।

अजमेर में २६ व्याख्यान करके महर्षि दयानन्द आषाढ़ कृष्णा द्वादशी को मसूदा नरेश के अतिथि बने। वहाँ धर्म, राजनीति और पुर्नविवाह पर समुचित प्रकाश डाला।

ऋषि खटके

पादरी शूलब्रेड को राजस्थान में ऋषि का आना खटक गया। उसने कहा, "आप राजे महाराजों को ही उपदेश करते हैं, निर्धनों में जाकर उन्हें नहीं समझाते।" राजनयिक महर्षि बोले : मैं परिव्राट् हूं और सर्वत्र व्रजन करके मनुष्य मात्र में एक-सा प्रचार करता हूं। छोटे से छोटा मानव भी मेरे व्याख्यान में आ सकता है। किसी को कोई रोक नहीं है।

श्रावण पूर्णिमा को यतिराट् ने अपने कर कमलों से तैंतीस भद्र पुरुषों को ब्रह्मसूत्र पहराये। मसूदा के जैनियों ने भी आर्यधर्म अपना लिया, जिसका मारवाड़ के सभी जैनियों पर उत्तम प्रभाव पड़ा।

भाद्र कृष्णा द्वितीया को मसूदा नरेश ने एक महोत्सव रचाया, जिसमें राजपूतों, क्षत्रियों, वैश्यों, कायस्थों और चारण महाशयों ने यज्ञोपवीत से अपने शरीर अलङ्कृत किये।

महर्षि का यशस् अन्य राज्यों में भी जा पहुँचा। रायपुर राज्य से निमन्त्रण आने पर जब वे वहां जाने को उद्यत हुए, तो मसूदा नरेश का जी भर आया। महर्षि ने उन्हें सान्त्वना दी। उनके प्रस्थान के अवसर पर राजदरबार सजाया गया। उच्चराज्य सिंहासन पर बैठकर महोपदेशक श्री दयानन्द जी ने राज्यकर्मचारियों को राजा-प्रजा के धर्म समझाए। अन्त में नरपति ने ५०० रुपये चरणों में रख नमस्कार किया, पुष्पहार पहराये। व्यवहार निपुण यतिराज ने भी एक फूलों की माला नरेन्द्र के गले में अपने हाथों से डाली। पश्चात् राजकीय बग्घी में बैठ रायपुर की ओर चल दिए। चार-पांच सौ मनुष्य पीछे चल रहे थे। आधा कोस पहुंचने पर ऋषि ने सबको लौटा दिया; पर मसूदा के अधिपति विवश करने पर भी न लौटे और चार कोस आगे तक उपदेश लेते चले गये। इच्छा तो छोड़ने की अब भी न थी; पर महर्षि का वचन उससे भी अधिक मूल्य रखता था; अतः लौट आये।

दूसरे दिन भाद्र कृष्णा नवमी को रायपुर जा पहुंचे। ठाकुर हरिसिंह ने एक सुवर्णमुद्रा और पांच सौ रुपये उपहार में दिये। प्रसङ्ग छिड़ जाने पर ऋषिवर्य ने

शासन सुधार तथा भद्र और कुलीन कर्मचारियों के पक्ष में ठाकुर महाशय का ध्यान आकृष्ट किया। इससे सत्ताधारी मुसलमान चिढ़ गए। वे श्री दयानन्द जी से भिड़े भी; पर निरुपाय हो लौट गए।

सीमाप्रान्त से रूपसिंह जी देशाटन करते हुए श्रीचरणों में आकर बोले, "भगवन्! आप पञ्जाब में तो पधारे; किन्तु हमारे प्रान्त में दर्शन न दिए।" (उस प्रदेश में मुसलमान अधिक थे और वे भारत के ही थे। उनसे राज्यक्रान्ति के समय कोई आशङ्का भी न थी। ईसाईमत का मुसलमानों में प्रचार भी सम्भव न था; क्योंकि वे स्वयं अपने मत पर दृढ़ थे, इस बात को ध्यान में रखकर) महर्षि ने रूपसिंह जी से कहा: महाशय! आप लोगों की ओर से हमें पूर्ण निश्चिन्तता है। इस समय तो राजस्थान में प्रचार की अत्यावश्यकता है।"

२० दिन तक रायपुर के राजा को जागरूक कर श्री दयानन्द सरस्वती भाद्र पूर्णिमा सँव्वत् १९३८ को ब्यावर में ज्यों ही पहुँचे कि शूलब्रेड फिर उनकी टोह लेने आए।

चन्दूलाल ने ऋषि से वेदान्त विषयक चर्चा चलानी चाही; किन्तु उन्होंने कहा: यह सूक्ष्म विषय है। अभी आप मेरा रचा सत्यार्थ प्रकाश पढ़िए। उसी से आपके सकल संशय विच्छिन्न हो जायेंगे।

ब्यावर से लौटकर महर्षि ने पुनः मसूदा नरपति को सम्मानित किया। १५ दिन पश्चात् एक तांगा, एक रथ, एक गाड़ी और चार अश्वारोही सैनिकों के साथ प्रस्थान कर बनेड़ाधीश राजदरबार के मध्य सुशोभित हुए। बनेड़ाधीश तो भाग्यशाली महर्षि के विशाल भाल की शुभ-शोभा, मनोरम देह कान्ति, अरुणचरण और शरीर सौष्ठव को निरख पुलकित हो उठे और बोले: प्रभो! हम सब नगर वासी आपको अपने बीच विराजमान देखकर अपने को बहुत सौभाग्यवान् समझ रहे हैं। अपने पावन दर्शन से आप ने हमें कृतार्थ कर दिया है। महर्षि की प्रेरणा पर बनेड़ाधिपति ने जीव-ब्रह्म के विषय में प्रश्न किया। तब उत्तर में कहा: जीव और ब्रह्म की सत्ता यद्यपि पृथक्-पृथक् है, तथापि ब्रह्म जीव के भीतर व्याप्त होकर बाहर भी ऐसे व्यापक है, जैसे आकाश मन्दिर के भीतर होता हुआ भी बाहर विद्यमान है।

एक दिन चक्राङ्कित वैष्णवों की समीक्षा करते हुए महाराज ने कहा— यदि तन के एक भाग पर चक्र चिह्नित करने से स्वर्ग प्राप्त होता है, तो भड़भूजे के भाड़ में सकल कलेवर झोंक देने से कैवल्यधाम उपलब्ध हो जाना चाहिए।

अन्तर्वेदना

बनेड़ा वासियों को अपना बनाकर व्युत्पन्नमति दयानन्द सँव्वत् १९३८ कार्तिक शुक्ला पञ्चमी को चित्तौड़गढ़ पहुँचे और गम्भीरी नदी के दक्षिणी तट पर रुण्डेश्वर महादेव में अधिष्ठित हुए। पूर्व दिशा में चितौड़गढ़ के दुर्ग को देख महाराणा प्रताप की वीरता का स्मरण हो आया और कह उठे कि यदि इस वीर भूमि में क्षत्रियों को राज्य की शिक्षा से प्रशिक्षित करके भारत के स्वातन्त्र्य समर में उनका उपयोग लिया जावे, तो देश के दुर्दिन सौभाग्यशालिता में परिवर्तित हो सकते हैं। अब अंग्रेज देशी राज्यों को भी अपने कुचक्र में फसाने का प्रयास कर रहे हैं। मेवाड़ के राजा सज्जनसिंह को भी 'भारतीय साम्राज्यों के सामन्तों का सितारा' की पदवी देने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहे हैं।

महाराणा सूर्य कहे जाते थे; पर अब उन्हें तारा बनाया जा रहा है। इस तिरस्कार को महाराणा ने यह कहकर सहन कर लिया कि उपराज रिपन स्वयं यहां आकर इस सितारा समारोह का उद्घाटन करें, तो इसमें उनकी प्रतिष्ठा स्थिर रहेगी। अंग्रेजों ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया है। यह कितने दुःख की वार्ता है कि स्वतन्त्रता तो दूर रही, स्वदेशी राज्य भी अंग्रेजों से मैत्री का हाथ बढ़ा रहे हैं। सब देशी राजा एक मत होकर यदि बृटिश शासन का विरोध करें, तो बहुत कुछ साफल्य मिल सकता है। इसलिये राजाओं की कार्य प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा।

उपराज रिपन के दरबार की सज्जाएं की जा रही थीं। उनके सम्मान में राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, ठाकुरमहाशय चितौड़ में अपना योग देने आने लगे थे। महाराणा सज्जनसिंह जी को जब पता लगा कि एक लोकोत्तर चरित विशाल मूर्ति साधु रुण्डेश्वर महादेव पर पधारे हैं, तो वे बिना सूचित किये महर्षि के शरण में पहुंचे और सर्वसाधारण की भांति जाकर बैठ गये। वे पूर्व सूचना देकर एक सन्त से सत्कार के अभिलाषी न थे। महाराज ने महाराणा का परिचय प्राप्त किया। जैसे महाराणा जी श्री महर्षि में विशेष भावनावान् बने, ठीक ऐसे ही महर्षि भी महाराणा को उपजाऊ भूमि के रूप में देखने लगे। शाहपुराधीश भी वहां उपस्थित थे। महाराणा सज्जनसिंह जी ने निवेदन किया—"भगवन्! उदयपुरर में दर्शन देकर हमें भी पुण्यार्जन का अवसर दीजियेगा।" उदारचेता ने कहा; बम्बई से लौटकर मैं उदयपुर अवश्य आऊंगा।

एक दिन देव दयानन्द राजाओं और पण्डितों से परिवृत हुए भ्रमणार्थ जा रहे थे कि मार्ग में एक मन्दिर के सम्मुख विवस्त्रा बालिका क्रीड़ा कर रही थी। स्वामी जी ने शिर नमा दिया। एक ब्राह्मण बोल उठा, "देखा, देवताओं में ऐसी शक्ति है कि वे विरोधी को भी झुका देते हैं।" यह सुनते ही महर्षि सहसा रुक गए और बोले, "देखते नहीं सबकी जनयित्री मातृशक्ति खेल रही है।"

चित्तौड़ में दो मास वास करके जब आचार्य दयानन्द बम्बई को प्रस्थान करने लगे, तो राणा जी ने उन्हें पांच सौ रुपये भेंट में दिए तथा ससम्मान बग्घी पर बैठाकर संयान स्थात्र पर लाए। संयान ने जब मञ्च छोड़ दिया, तब अपने स्थान पर लौटे।

एक सप्ताह तक यतिवर्य ने इन्दौर नरपति का आतिथ्य स्वीकार किया। पश्चात् वे पौष शुक्ला एकादशी को बम्बई पहुंचे।

पादरी जोजेफ कुक ने एक वक्तृता प्रसारित की कि ईसाई धर्म ही एक नारायणी धर्म है, समस्त संसार पर इसी का विस्तार होगा। आगामी दिवस तर्क शास्त्र विचक्षण श्री दयानन्द जी ने पादरी महाशय को अपने कथन की सत्यता प्रमाणित कर देने के लिए चुनौती दी; पर वह तो घात में बैठे व्याघ्र से आत्म-गोपन किए रहे जन्तु के समान गृह में ही लुका रहा।

देव दयानन्द ने उसके फैलाए विष को निकालने के लिए ईसाई मत की विशद व्याख्या की, जिससे सबके सम्मुख बाइबिल की पोल खुल गयी।

विभूति-प्रदर्शन

आर्यसमाज बम्बई का वार्षिकोत्सव उपस्थित हुआ। आर्य जनों ने महाराज को अपने मध्य उपस्थित देख मधु-मास का-सा अनुभव किया। उत्सव में ही जनक धारी लाल जी से महर्षि ने कहा—"आप बहुत-सी शङ्काएं मन में रखकर घर से चले थे, अब पूछ लीजिये।" तब उसे विश्वास हुआ कि स्वामी जी तो हमारी अन्तर्भावना के भी पारदर्शी हैं। उसने एकान्त में होकर अपने प्रष्टव्य लिखने आरम्भ किये; पर आश्चर्य है कि उन्हें उनके समाधान साथ-साथ सूझते जा रहे थे। इतने में ही ऋषि प्रवर ने उनके निकट आकर कहा—"कहो कुछ पूछना है?" वे बोले; पूज्य महर्षे! आप की लीला अगम्य है करुणावारिधे! आपने मेरे आत्मा में प्रविष्ट होकर सब का उत्तर दे दिया। अब तो केवल ईश्वरोपासना प्रकार पर थोड़ा प्रकाश डाल दीजिये। महर्षि ने कहा; यह तो सब कुछ आपको दानापुर ही समझा दिया था। आपने उसका अनुष्ठान नहीं किया।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठ ऋषिराज ने जनकधारीलाल के प्राणायाम में संशोधन किया और ध्यान का विधि भी बताया। किन्तु जब आदित्यनारायण ने योगाभ्यास में अपने लिये निवेदन किया, तो महर्षि ने कहा कि अभी आप यम नियमों का पालन कीजिये। यह सुन वह अति लज्जित हुआ क्योंकि उस अपुण्यात्मा के सम्मुख उस समय उसका ही दुष्कर्म आकर हँस उठा। वह दाय भाग के मिथ्या झगड़े में अपनी साक्षी देकर आया था।

जब जनकधारीलाल ने योगदर्शन के विभूतिपाद पर संशय किया, तो पतञ्जलि के समान दयानन्द ने कहा : वह अक्षरशः अनुभवसिद्ध यथार्थ है। मेरी वर्णित प्रक्रिया से मेरे समीप रहकर यदि आप अभ्यास करेंगे, तो तीन मास में स्वयं सिद्धि प्राप्त कर लेंगे।

बम्बई आर्यसमाज में भवन निर्माण के लिये एक धन-निधि स्थापित किया गया। एक श्रेष्ठी ने उनसे निवेदन किया—"प्रभो ! मेरे समीप एक सहस्र रुपया है। मैं उसे इस कार्य में देना चाहता हूं।" महर्षि बोले—भद्र ! आपकी भावनाएं भव्य हैं, किन्तु आप केवल एक सौ रुपया ही दीजिये। मैं यह नहीं चाहता कि द्रव्याभाव में आप का व्यापार अवरुद्ध हो जावे। आप परावलम्बी बन जावें और कष्ट पावें। आपके गार्हस्थ्य जीवन को सुखमय देखकर ही आर्यसमाज के भवन की शोभा बढ़ेगी।

एक अलस अंग्रेज विद्वान् आया, वह श्री महर्षि के पार्श्व प्रति-दिन भोजन करके नगर में पर्यटन को चला जाता था अथवा खाट पर पड़ा करवटें बदलता रहता था। स्वामी जी ने उससे कहा—जो जितना कार्य करता है, वह उतना ही उपयोगी होता है। मनुष्य को सभी प्राणियों में वरिष्ठ माना गया है। इस कारण उसे कार्य भी सब से अधिक ही करना चाहिये। मैं दूसरों का भोजन मात्र करता हूं और कर्म रात-दिन करता हूँ। शेष इससे अधिक जो भी प्राप्ति है, वह तो देश-हित ही समर्पित हो जायेगी। आप मुझे प्रतिदिन अंग्रेजी समाचार-पत्र ही सुना दिया करें, यह ही आपका उपकार मान लिया जावेगा।

महर्षि शिष्टाचार के उपमान थे। एक बङ्गीय महाशय श्री स्वामी जी के दर्शनार्थ आये। उनके दाढ़ी थी। महाराज के गुजराती सेवक ने उन्हें मुसलमान समझ कर दोने में पानी पिलाया। ऐसा किया जाना महर्षि को खटका। अभ्यागत के चले जाने पर स्वामी जी ने कहा—मेरे समीप सभी जाति

के मानव आते हैं। उन सभी के साथ एक-सा व्यवहार करना उचित है। ये बङ्गीय सज्जन यद्यपि यवन नहीं थे, तथापि यदि सबके साथ तुम्हारी एक-सी सरणी होती, तो अब जैसी त्रुटि कदापि न करते। सबको गिलास से ही जल-पान कराया करो।

श्याम जी कृष्ण वर्मा को राजनीतिक प्रेरणा

कच्छ राज्य के माण्डवी स्थान को गौरव प्रदान करनेवाले श्याम जी कृष्ण वर्मा महर्षि के पादपद्मों में आकर द्वितीय वार प्रणत हुए। महाराज ने उन्हें विदेश जाने की प्रेरणा की; क्योंकि उनसे वैदिक विषय के प्रचार की आशाएँ पूर्ण होती दीख पड़ती थीं। महर्षि के आदेश का पालन शिरोधार्य समझ वे विदेश जाकर प्रो० मोनियर विलियम्स के सान्निध्य में ऑक्स फोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन करने लगे। ऋषिराज ने उन्हें कुछ समय बीतने पर संस्कृत में पत्र लिखा कि यदि अब तक अवकाश न मिला हो, तो मैं सत्य हृदय से कहता हूं कि जब तुम को पठन-पाठन से समय मिले, तभी वैदिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ निकल पड़ना। उसके पश्चात् ही यहाँ आना, इससे पूर्व नहीं। क्या तुमने कभी वहां पार्लियामेन्ट नाम की सभा देखी है?

राजनयिक महर्षि संकेतमात्र ही करते थे। प्रतिभाशाली महानुभाव उसे समझ जाते थे। महर्षि राजनीति सम्बन्धी स्पष्ट घोषणा करके बृटिश शासन द्वारा प्रचार रहित हो जाने से बचाव रखते थे। यह भी एक कारण है, जिससे उन्होंने समय-समय पर धर्म के प्रचार में अवरोध न करने की बृटिश शासन की प्रशंसा की है। यह सब होते हुए भी महर्षि की राजनीति और धर्मनीति परस्पर सर्वथा संश्लिष्ट थीं, जिन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता था। यह ही कारण है कि महर्षि की भावना को समझनेवाले तत्कालीन आर्यजनों ने राजनीति में विशेष भाग लिया, उन्हीं में श्याम जी कृष्ण वर्मा ऑक्स फोर्ड के स्नातक और लन्दन के विधिवक्ता बनकर जब भारत आये थे, तो महर्षि के उच्च शिष्य होने के कारण उन्हें रतलाम, मेवाड़ और जूनागढ़ राज्यों में दीवान के राजकीय पद प्राप्त हुए थे। जूनागढ़ में श्याम जी द्वारा आमन्त्रित ऑक्स फोर्ड के सहाध्यायी मेकनाक ने विश्वासघात करके श्याम जी की राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों की सूचना भारतीय कार्यालय लन्दन को भेजनी प्रारम्भ कर दीं, जहां पर ऋषि दयानन्द के 'विद्रोही फ़क़ीर' घोषित किये जाने का अभिलेख पूर्व से ही था। परिणाम यह हुआ कि श्याम जी कृष्ण वर्मा को जूनागढ़ से हटा दिया गया। उन्होंने पुनः मेवाड़ का आश्रय लिया।

वहां प्रत्युपराज (रेज़ीडेण्ट) विलियम कर्जन बायली द्वारा निषेध किये जाने पर भी महाराणा ने उन्हें रख लिया। भारत में अकाल पड़ने पर भी करोड़ों का अन्न विदेश लेजाने, सीमा प्रदेशों में भारतीय द्रव्य से साम्राज्यवादी युद्ध लड़ने रूप अत्याचारी घृणित कार्यों के कारण अंग्रेजों के विरुद्ध भारत में एक षड्यन्त्र रचा गया, जिसमें श्याम जी कृष्ण वर्मा भी थे। अंग्रेजों ने छह मराठा युवकों को फांसी दी तथा अनेकों को चिरकाल के लिये बन्दी बनाया। इसी काल में श्याम जी सपरिवार मेवाड़ छोड़कर विदेश खिसक गये। उन्होंने वहां राजनीतिक क्रान्ति के लिये 'दि इण्डियन होमरूल सोसाइटी' और 'इण्डियन सोशियोलोजिस्ट' समाचार-पत्र को जन्म दिया एवं कुछ दिन पश्चात् 'इण्डिया हाउस' की स्थापना की। जहां उनकी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों से श्री विनायक दामोदर वीर सावरकर बहुत प्रभावित हुये और उन्होंने 'इण्डिया हाउस लन्दन' में ही 'अभिनवभारत' नामक संस्था की स्थापना की। इन क्रान्तिकारियों ने सन् १८५७ के विप्लव को, जिसमें अपनी स्वतन्त्रता के लिए सङ्घर्ष करनेवालों पर अग्रेजों ने अत्याचारों की सीमा उलाङ्घ दी थी, स्मरण करने के लिए सन् १९०७ में अर्द्धशताब्दी मनाने का निश्चय किया। तब वीर सावरकर ने मराठी भाषा में 'स्वातन्त्र्य समर' नामक पुस्तक लिखा। प्रकाशन से पूर्व ही जब वह पुस्तक जप्त कर लिया गया, तो अंग्रेजी में अनुवाद किया हुवा वह पुस्तक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा ने हालैण्ड मे तथा श्री भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद ने भारत में छपाकर वितरित किया। नेताजी सुभाष बोस ने उसे आजाद हिन्द फौज में बंटवाया।

वीर सावरकर को अभियुक्त के रूप में जहाज़ के द्वारा भारत लाने की जब योजना बनी, तो उस जहाज़ से श्री सावरकर को भगाने का ढंग क्रान्तिकारियों में से श्याम जी कृष्ण वर्मा, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, लाला हरदयाल तथा श्रीमती कामा आदि ने बनाया। ८ जुलाई १९१० को सावरकर फ्रांस से मर्सलीज़ बन्दरगाह के समीप शौच के बहाने समुद्र में कूद पड़े और पांच मील तैर कर तट पर जा पहुंचे। अन्ताराष्ट्रिय विधान के विरुद्ध भी उन्हें वहां प्रगृहीत कर लिया गया। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने इस विषय को हेग के अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय में उपस्थित किया, पर वह वृटिश प्रभाव के कारण दबा दिया गया।

३१ जनवरी सन् १९११ को उन्हें ५० वर्ष का कारावास सुनाया गया। अंडमान के बन्दीगृह में प्रवेश करते ही व्यङ्गपूर्ण शब्दों में अंग्रेज अधीक्षक ने पूछा—ऐ युवक! क्या तुम इतने लम्बे काल के पश्चात् जीवित रूप में लौटने की आशा रखते हो?

श्याम जी कृष्ण वर्मा आदि क्रान्तिकारियों की बढ़ती प्रगति को देखकर वीर सावरकर ने उत्तर में कहा–"क्या आप समझते हैं कि उस समय तक वृटिश प्रशासन भारत पर बना रहेगा।"

वृटिश प्रशासन ने 'इण्डिया हाउस' को भी राजद्रोही घोषित कर दिया। भारत में आतङ्क के प्रसार का दोषी श्याम जी कृष्ण वर्मा को ही ठहराया गया। अन्ततः उन्हें इङ्गलैण्ड छोड़कर पैरिस का आश्रय लेना पड़ा और वहां उक्त दोनों कार्य आरम्भ कर दिये। किन्तु यूरोप के महायुद्ध ने उन्हें वहां से भी उखाड़ दिया। फिर स्विटज़रलैण्ड गए, तो राजनीति में भाग लेने की आज्ञा न दी गयी और वृद्धावस्था तथा सापेक्षिक निराशा के कारण फिर वे कहीं जाकर सक्रिय न हो सके। पुनरपि सात वर्ष तक जिनेवा में रहकर भारत की सेवा करते-करते उन्होंने प्राण छोड़े।

गो आन्दोलन

उन दिनों अंग्रेजी छावनियों के लिये गौ आदि दुधारू पशुओं के मारण से भारत के धन का विनाश तीव्रता से हो रहा था। हिन्दुओं में व्याप्त इस असन्तोष के कारण महर्षि दयानन्द ने गो-रक्षा के निमित्त एक व्यापक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उन्होने वैध आन्दोलन के रूप में भी दो करोड़ हस्ताक्षर कराके इङ्गलैण्ड में महारानी के समीप भेजने की योजना बनाई, जिससे गो-संरक्षण पर भारतीयों का मत अभिव्यक्त हो सके।

संवत् १९३८ आषाढ़ बदी षष्ठी को भगवान् दयानन्द ने बम्बई से प्रस्थान किया। खण्डवा, इन्दौर रतलाम तथा जावरा आदि नगरों में वे मनुष्यों को प्रबोध जल से अभिषिक्त करते हुए श्रावण शुक्ला नवमी को चित्तौड़गढ़ पधारे। उन्होंने महाराणा सज्जनसिंह जी को अपने उदयपुर आने की सूचना रतलाम से ही भेज दी थी।

चित्तौड़गढ़ से संयान द्वारा महर्षि निम्बाहेड़ा पहुंचे। वर्षा के कारण उदयपुर से सवारी उस समय तक न आसकी थी। राजकर्मचारी अपने अभ्यागत को पालकी पर बिठाकर ले चले। उनके बोझ से वह टूट गयी। कुछ दूर पदाति चलने पर उदयपुर से आते हुए महाराणा के हाथी और बग्घी मिल गए। उन द्वारा वे द्वितीय श्रावण त्रयोदशी को उदयपुर पहुंचे। * पूज्य अतिथि का आसन सज्जन

---

* उन दिनों चित्तोड़ से उदयपुर के लिये संयान नहीं निकला था। लेखक

निवास (नौलखा बाग़) में किया गया। उनके साथ स्वामी आत्मानन्द, पण्डित भीमसेन, ब्रह्मचारी रामानन्द भी थे। महाराणा सज्जनसिंह जी ने माननीय महर्षि का अभिनन्दत मन्त्रिमण्डल, राजपुरोहित और नगर वासियों को एकत्रित करके सजधज से किया। श्री राणा जी प्रतिदिन उनकी सेवा में प्रातः ही उपस्थित हो जाते थे। ख्याति सुन नागरिक जन भी श्रीचरणों में आने लगे। मौलवी अब्दुल-रहमान ने आर्षपुञ्ज दयानन्द से पूछा, "ऐसा कौन-सा धर्म है, जिसका पुस्तक सब मनुष्यों की बोलचाल और प्राकृतिक नियमों को सिद्ध करने में प्रबल हो ?" श्रोत्रिय दयानन्द ने शङ्का—वारण करते हुवे कहा, "ईश्वर की इस सृष्टि में पक्षपात शून्य, सत्यज्ञान कराने वाला, सृष्टि के आरम्भ में ही प्राप्त ईश्वरीयज्ञान वेद है।"

"निराकार ईश्वर से वेद का ज्ञान कैसे प्रादुर्भूत हुआ ?' दूसरा प्रश्न किया।

"अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार पूज्य महर्षियों के अन्तःकरण में चारों वेदों का ज्ञान, स्वच्छ दर्पण में सूर्यकिरण की भांति, प्रवेश कर गया।" महर्षि ने उत्तर देते हुए आगे कहा : उस बोध को उन महर्षियों ने त्रिविष्टप् (तिब्बत) से आरम्भ कर उत्तरोत्तर देशों में प्रसारित कर दिया।

"भूमण्डल के सारे मनुष्य क्या एक ही कुल के हैं ?" अब्दुलरहमान ने तीसरे बार पूछा।

"भिन्न-भिन्न कुलों के हैं।" ऋषि ने मौलिक समाधान करते हुवे कहा— "आदि काल में चारों वर्णों में जिन-जिन के कर्म गर्भ सृष्टि में शरीर धारण करने की योग्यता रखते थे, वे अमैथुन रूप से उत्पन्न हुए। पश्चात् मैथुनी सन्तति चल पड़ी।"

मौलवी ने आगे पूछा, "जगत् कब उत्पन्न हुआ ?"

एक अरब छानवे करोड़ कई लाख वर्ष बीत गए।"—महर्षि के इन वचनों से उसके विस्मय की सीमा न थी। कभी कालान्तर में ये अभूतपूर्व बातें विस्मृत न हो जायें, इस कारण उसने आगे चलाये—उपादान आदि कारण और जीव-ब्रह्म के विषय में लिखना साथ-साथ आरम्भ कर दिया।

दर्शनीय समाधि

एक दिन भगवान् दयानन्द पद्मासन लगाये बैठे थे। प्रातःकाल के उदीयमान सूर्य ने उनके कान्तिमान् कलेवर को चतुर्गुण चमका दिया। मुख की आभा ब्राह्म गुणों को प्रकटाने लगी। सहजानन्द नामक एक विहारी सन्त, जो सौभाग्यतः

आकर चिरकाल तक यह सुवर्णिम दृश्य देखते रहे, योगिराज के समाधि-भङ्ग पर चरणों में आपड़े। उनसे विधिपूर्वक सन्यास दीक्षा-प्रदान करने की प्रार्थना की। वे वैराग्यवान् होते हुए भी विधिवत् दीक्षित न थे। महाराज उन्हें अपने निकेतन पर प्रेमपूर्वक लेगये। प्रणव जप करने का प्रातः सायं उन्हें अनुष्ठान बताया। संस्कार विधि के अनुसार संन्यासी के धर्म बताते हुए कहा : आप अच्छे सुपठित विरक्त महात्मा हैं। देशोद्धार संन्यासी का परम कर्त्तव्य है। आप अपना जीवन इसी में समर्पित कर दीजिए।

महात्मा सहजानन्द जी ने महाराज के पादपद्मों में मस्तक नमा ऋषि वाक्य स्वीकर किया।

यदा-कदा श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती चौबीस घण्टों तक समाधि लगाया करते थे। ऐसा करने से पूर्व वे सब कर्मचारियों को अपनी कोठरी के निकट आने से वर्ज देते थे। महात्मा सहजानन्द जी पर उन्होंने कृपा की और उपासना के लोकोत्तर दृश्य को झरोखों में से देख लेने की अनुमति देदी। आदेश मिलने पर श्री सहजानन्द जी ने ब्रह्मलीन महर्षि के मुखारविन्द पर पुनः-पुनः चक्षुर्निक्षेप किया। उस अनुपम तेजस् को रह-रह कर देख उनका हृत्कमल खिल उठता था।

कभी कभार महर्षि स्वयं ही अपनी योग सिद्धि दिखा देते थे—राणा सज्जनसिंह और श्री सहजानन्द जी से वे बोले, "पण्डित सुन्दरलाल जी आरहे हैं। पहिले सन्देश भेज देते तो वे अपनी बैलगाड़ी लाने का कष्ट न उठाते।" "महाराणा ने निवेदन किया, "भगवन्! अब भेज देते हैं।" सिद्ध योगी ने कहा, "अब वे चल पड़े हैं। उनकी गाड़ी में एक बैल शुक्ल है और दूसरा लाल श्वेत धब्बे वाला।" कहने की आवश्यकता नहीं—वे दूसरे दिन इन्हीं लक्षणों सहित पहुंचे।

महात्मा सहजानन्द जी उपदेश कार्य के लिए उदयपुर से चल दिए। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में विचरते हुए प्रचार कार्य में जीवन-यापन करने लगे।

महर्षि का लक्ष्य

एक साधु ने आकर निवेदन किया, पूज्ययते! धर्म का उपदेश आप अधिकारी को देखकर ही किया करें।" युगपुरुष महर्षि ने कहा : अधिकारी और अनधिकारी पर तो विचार पीछे होता रहेगा। अभी भारत की सकल जनता ही अनधिकार रोग से ग्रस्त है। उसे ज्ञान का कटु घूंट पिलाकर स्वस्थ

करना है। मेरा लक्ष्य अशेष भारत को जागरित कर उसे आत्म-गौरव सिखाना है, अपने देश की दुर्दशा दिखा कर जीवनों को समुज्ज्वल बनाना है और वेद बोध का वह्नि जलाकर स्वराज्य तथा सौराज्य प्राप्ति के गुणों को चमकाना है।

एक दिन मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने पूछा—"भारत का पूर्ण हित कब होगा महर्षे ! यहां जातीय उन्नति कब होगी ?" सारगर्भित शब्दों में ऋषिवृषभ ने उत्तर दिया, एक धर्म एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का सर्वात्मना हित और जातीय प्रगति होना दुष्कर है। पण्ड्या जी, सब सफलताओं का केन्द्र बिन्दु ऐक्य ही है। जहां भाषा, धर्म और भावना में एकता आजाए, वहां सागर में नदियों की भांति समस्त सुख एक-एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजा महाराजे अपने शासन मे सुधार और संशोधन करें। एवं राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकत्व उत्पन्न कर दें। फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जायेगा।

पण्ड्या जी ने पुनः प्रार्थना की—जब आप का उद्देश्य और आदर्श सङ्घटन सम्पादन करना है, तो आप मत-मतान्तरों का कठोर खण्डन क्यों करते हैं ? इस से तो उलटा वैर विरोध तथा वैमनस्य बढ़ता है।

"प्रथम मेरा ध्येय धार्मिक सार्वजनिक है, उसे संकुचित नहीं किया जा सकता पण्ड्या जी !" युगद्रष्टा दयानन्द ने गम्भीरता से उत्तर देते हुये कहा—"दूसरे भारतवासी लम्बी तान कर, ऐसी गहरी नींद में सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आंख तक खोलने की भी चेष्टा नहीं करते। संस्कृत होना तो दूर रहा। यदि कुरीतियों और कुनीतियों के खण्डन रूप कोड़े की तड़ातड़ से भी ये जग जायें, तो ईश्वर का कोटि-कोटि धन्यवाद करूंगा।" ऋषिवर ने आगे कहा—पण्ड्या जी ! कोई देश जन-शून्य नहीं हो जाया करता। लोग तो बने ही रहा करते हैं; परन्तु धर्मगुरुओं और सामाजिक नेताओं के असावधान रहने से प्रमाद और आलस्य के कारण भावना-भाव और भाषा आदि एकरूपता के चिह्न परिवर्तित हो जाते हैं। जाति के आचार-विचार नष्ट हो जाते हैं। रहन-सहन के ढङ्गों में भेद आजाता है। ठीक ऐसा समय अब इस देश पर उपस्थित है। इसकी पिछली अचेतनता से करोड़ों मनुष्य मुसलमान होगये। अब प्रति-दिन सैंकड़ों ईसाई बनते जा रहे है ऐसे समय में तो अपने सधर्म्म भ्राताओं को कड़े हाथ से उनकी चोटियां पकड़कर भी जगाना पड़ेगा। भाई ! यह कटु कर्त्तव्य मैं कोई अपने स्वार्थ के लिये तो कर नहीं रहा। मुझे तो इसके कारण अ हेलना

निन्दा, कुवचन, ईंट, पत्थर और विष ही स्थान-स्थान पर मिलता है, परन्तु बन्धु वात्सल्य की भावना मुझे विपत्तियों के विकट और जटिल जाल में भी समाज-सुधार के लिये प्रोत्साहित कर रही है।"

पण्ड्या जी ने साभिवादन श्रीवचनों का हार्दिक अनुमोदन करते हुये कहा, देश सुधारक ! महर्षे !! दो-चार धर्माचार्य भी यदि आपके विचार के हो जावें, तो स्वल्प काल में ही आर्य जाति का बेड़ा पार हो सकता है।

महाराज बोले—प्रलोभन के वशवर्ती हुये बड़े-बड़े महात्मा भी अपनी मान मर्यादा को मलियामेट कर देते हैं। लोभ के स्वरूप ने असङ्ख्यक तपस्वियों की तपश्चर्या और यतियों के व्रत को दिन दहाड़े लूट लिया है। साधारण व्यक्तियों की तो कोई गणना ही नहीं हो सकती। धर्माचार्य गृधा छोड़ें; तो वे फिर मेरे समान हो वेद प्रचार में प्रवृत्त हो जायें। वह उनसे बनता नहीं।

राजनयज्ञ ऋषिवर ने देखा कि राजनीति की भूमि यहां उर्वरा ही है। इस कारण उन्होंने महाराणा को मनुस्मृति का सातवां, आठवां और नवां अध्याय पढ़ाया। चरित घटन और राजाओं से सम्बन्धित महाभारत के उद्योग पर्व तथा बन पर्व के अंश पढ़ाये। विदुरप्रजागरादि नीति में भी उन्हें निपुण बनाया।

अपना रहस्य महाराणा पर

महर्षि राजनीति से निरन्तर सम्बन्धित रहे। इस रहस्य को उन्होंने महाराणा सज्जनसिंह जी पर स्पष्ट प्रकट किया। उनके आन्तरिक सङ्कल्पों को जानकर महाराणा बोले—करुणानिधे ! आप जो प्रतिमा पूजन का खण्डन करते हैं, वह तो राजनीति के सर्वसंग्रह सिद्धान्त के प्रतिकूल है। आप मूर्ति-खण्डन छोड़ दीजिये। एकलिङ्ग महादेव के महन्त बन जाइये। यह मेवाड़ प्रदेश उसी के समर्पित है। उसी का राज्य पर शासन चलता है। सब कुछ उसी का है। लोकाचार से ही प्रान्त का भाग भी उसके साथ लगा है, जिस का आय लाखों में कूता जाता है।

सार-असार स्पर्शी महर्षि ने भर्त्संना करते हुये कहा—राजन् ! मैं आपके राज्य में से एक दौड़ लगाकर पार हो सकता हूं, परन्तु ईश्वर के असीम सीमों का उलङ्घन नहीं कर सकता। जब मुझे ईश्वर का ऐश्वर्य प्राप्त है, तब मैं आपके तुच्छ वैभव पर एक टुक भी नहीं देख सकता।

महाराणा ने अपनी धृष्टता की क्षमा मांगी। अबोधवश उनसे यह त्रुटि हो

गयी । उन्हें पता नहीं था कि ये काषायवेषी इतनी जाज्वल्यमान आशाओं के पुञ्ज हैं। तब से उन्होंने दिव्य चरित दयानन्द की प्रत्येक सुविधा का ध्यान अधिक से अधिक रखना आरम्भ कर दिया।

महाराणा सज्जनसिंह धार्मिक वीर युवक थे। स्वराज्यकाङ्क्षी दयानन्द उन्हें वास्तविक राजा बना देने के इच्छुक थे। तस्मात् उन्होंने महाराणा की दिन-चर्या में सुधार किया। उसके आचार से महाराणा में धर्मलाभ, प्रजाप्रेम, शासन प्रबोध और कर्त्तव्य विवेक जाग उठा। उसके आधार पर वे अपने राज्य को उत्कृष्ट बनाकर राजन्वान् बनने को उत्कण्ठित हो उठे।

महर्षि ने उनसे गोवध बन्ध करने के सम्बन्ध में जब कहा, तो उन्होंने जोधपुर के अधिराज श्री यशवन्तसिंह जी को पत्र लिखा। जिन्होंने सँव्वत् १९३९ पौष कृष्णा पञ्चमी को यह उत्तर भेजा—"म्हारी प्रजा १४, ६१, १५६ हिन्दू ने १, ३७, ११६ मुसलमायां तीन पशु (गाय बैल और भैंस) नहीं मारिया जावणरा प्रबन्ध में खुशी है और मैं पिण रजामन्द हाँ।"

उस आर्षविद्य महर्षि ने राजवाड़ों में आकर देखा कि स्वदेशी प्रशासन में सत्परामर्श का कितना आदर होता है और विदेशी राज्य में बहुल प्रयास करने पर भी कोई परिणाम नहीं निकलता। इन बातों को देखकर उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है अथवा पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण-सुखदायी नहीं है।"

उदयपुर से उत्साहित होकर परमहंस दयानन्द फाल्गुन अमावास्या के दिन शाहपुराधीश को भी सचेत करने के हेतु उनके भूभाग में पहुंचे।

बृटिश प्रशासन के प्रत्युपराज सभी स्वदेशी राज्यों में सक्रिय थे। महाराणा उदयपुर की टङ्कमुद्रा पर 'दोस्ती लन्धन' लिखा जाता था। महर्षि के कारण मेवाड़ राज्य में जब आत्मगौरव चमकने लगा। उनके ग्रन्थों में भी ये ही बातें देखने को मिलीं तथा उनका आगामी आयास भी जब नरेशों के राज्य मे ही होते देखा, तो उन्हें भारत से अपना सिंहासन डोल उठने के लक्षण स्पष्ट दीखने लगे। तब से महर्षि के जीवन को शीघ्र समाप्त करने की आन्तरिक योजना चालू हो गई।

शाहपुराधीश को भी राजनयिक दयानन्द ने मनुस्मृति, योगदर्शन, तथा वैशेषिक दर्शन का अध्ययन आरम्भ कराया। प्राणायाम का विधि भी सिखाया।

उस दिव्य महात्मा ने अपनी इच्छानुसार यहां एक यज्ञशाला का निर्माण

कराया, जिसमें प्रतिदिन होम होने लगा तथा उसका अग्नि कभी नहीं बुझने दिया जाता था।

श्री दधिमथ व्यास से यतिवर्य ने कहा, "आइये व्यास जी, आज मुझे पूर्ण अवकाश है। आप से वार्तालाप में पर्याप्त अवसर मिलेगा।" व्यास जी ने निवेदन किया, "प्रभो! आप तो सदा स्वतन्त्र हैं। किसी के बन्धन में नहीं। तब समय का तो प्रश्न ही नहीं उठता।" तब वे बोले: मैं सारे धार्मिक बन्धनों को मानता हूँ। वर्णाश्रम की रीति-नीति से उच्छृङ्खल और निरङ्कुश नहीं हूँ। स्वच्छन्दता-पूर्वक ही वेदभाष्य आदि का कार्य किया करता हूं। आज उससे छुट्टी मनाई है।

ओ३म् ही श्रेष्ठ

एक रामस्नेही के कथन पर संकेत किया: नाम के गुणों का प्रबोध किये बिना परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। 'ओ३म्' नाम में परमेश्वर के सकल कार्य आजाते हैं। वह शक्ति राम नाम में कहां। जैसे दूध कहते ही, उसके श्वेत, द्रव और पुष्टिकारक होने की प्रतीति हो जाती है; ठीक ऐसे ही 'ओ३म्' का उच्चारण करते ही उसके सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, न्यायकारी और दयालु होने का भान होजाता है। गुणों के स्फुरण के बिना नाम निष्प्रयोजन है। जैसे दुग्ध का सेवन करने से ही शरीर पुष्ट होता है; वैसे ईश्वरीय कर्मों को धारण करने से ही परमानन्द रूप मुक्ति मिलती है। इस कारण नाम के साथ गुणों का बोध होना अनिवार्य है।

इन दिनों ऋषिराज मध्याह्न के भोजनान्त में १६ मिनट विश्राम करते थे। वे स्वयं ही समय पर उठ बैठते। सेवक भी घड़ी देखकर जल लिये उपस्थित मिलता। इसी प्रकार निद्रा भी इतनी वशवर्तिनी थी कि दस बजे की पहली टन पर वे शय्याशायी होजाते और दूसरी टन पर प्रगाढ़ निद्रा में पहुँच गए प्रतीत होते थे। अवधान भी इतना प्रबल था कि चार घण्टे शयन कर ठीक दो बजे जग जाते थे।

योगाभ्यास द्वारा पांचों ज्ञानेन्द्रियों के मल समाप्त थे। वे दूर तक का देख लेते और सुन लेते थे। घ्राण का सामर्थ्य इतना था कि अल्प दुर्गन्ध भी उन्हें शतगुण दीख पड़ता था। ग्रीष्म ऋतु में एक दिन खस के टट्टों पर ऐसे पात्र से जल छिड़क दिया गया, जिसको स्वच्छ पानी से धोया नहीं गया था। महाराज को पिछले दिनके उस वासित गन्ध ने ही शान्त न बैठने दिया और कहा: ये सब टट्टे उतार दो। इनसे गत दिवस के पानी का गन्ध आता है।

इससे सेवकों को अपनी उपेक्षा वृत्ति पर जहां उत्ताप हुआ, वहां यतीन्द्र दयानन्द के गन्ध ज्ञान पर अति विस्मय भी हुआ।

जोधपुर के लिए सज्जा

शाहपुराधीश को भी आर्य बनाकर जब ऋषिश्रेष्ठ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी शनिवार संवत् १६४० को जोधपुर नरेश के आमन्त्रण पर वहां जाने को कृत-सङ्कल्प हुए, तो आर्यजनों ने मुनीन्द्र दयानन्द से निवेदन किया : जहां आप इस समय पधार रहे हैं, वहां के लोग अति कठोर प्रकृति के हैं। कहीं ऐसा न हो कि आपके सत्योपदेशों से वे आपको पीड़ा पहुचाने में भी सङ्कोच न करें। अंग्रेजों के प्रत्युपराज सब राज्यों में विद्यमान हैं। वे भी राजाओं में आप द्वारा इस कार्य क्रान्ति को देख मन ही मन किसी अवसर की बाट जोह रहे हैं।

निर्भय होकर ऋषिसत्तम बोले : यदि लोग हमारी अङ्गुनियों की बत्ती बनाकर जलादें, तो भी कोई चिन्ता नहीं है। मैं वहां जाकर अवश्य ही सत्य का प्रचार करूँगा।

जोधपुर के लिए प्रस्थान-समय शाहपुराधीश श्री नाहरसिंह जी ने ऋषिवर को आयोजित समारोह में एक अभिनन्दन पत्र पुरस्कृत किया। २५० रुपये श्री-चरणों में चढ़ाए। ५० रुपये लेखकों के लिए प्रतिमास देने का वचन दिया। इस प्रकार आचार्य दयानन्द नरशार्दूल से समादृत होकर ज्येष्ठ कृष्णा पञ्चमी को अजमेर होते हुए जब पाली संयान स्थात्र पर पहुंचे, तो जोधपुर राजाधिराज की भेजी गयी सामग्री और यानों में एक हाथी, तीन ऊंट, तीन रथ, एक सेज गाड़ी और चार अश्वारोही सैनिक आए हुए मिले। उनको साथ ले ऋषिराज एक नृप की न्याइं जोधपुर नगर की ओर चल पड़े। दो रातें मार्ग में बीतीं और ज्येष्ठ कृष्णा दशमी गुरुवार को जोधपुर नरेन्द्र के प्रथम और अन्तिम अतिथि बने।

महर्षि के शुभागमन से जोधपुराधिपति के विविक्त प्रासाद प्रसन्न हो उठे। नरेन्द्र ने स्वागत में भव्य अभिनन्दन किया; पर बृटिश प्रत्युपराज उदास हो चला। समस्त भारत पर छाये हुए सुधारक श्री दयानन्द जी उसकी आंखों में करकते थे।

जोधपुर महीपति ने उस अद्वितीय महापुरुष का चारु प्रबन्ध किया। उन्होंने श्री सेवा में चारण, चार सेवक और छह आरक्षी सहित एक मुख्यारक्षी नियुक्त कर दिया। राठौरवंश के राजपूत, राठौर राज्य के सरदार ऋषि का समागम सुन कर उनके पड़ाव पर पहुँचने लगे। एक से एक आगे बढ़कर उनके शिष्य हो जाने का समुचित प्रमाण देता था। राव राजा तेजसिंह और जवानसिंह उनकी सेवा का सतत ध्यान रखने लगे।

नृप श्री यशवन्तसिंह जी १७ दिन पश्चात् श्री चरणों में जब उपस्थित हुए,

तो एक सौ रुपये, पांच स्वर्ण मुद्राएं अर्पित करते हुये नीचे ही बैठ गये। व्यवहार परायण महर्षि ने प्रत्याग्रह से उन्हें अपने हाथों से उठाते हुये समीपवर्तिनी आसन्दिका पर अधिष्ठित किया और कहा—"यह ठीक है कि आप आश्रम मर्यादा और विनय पालन में अपने को बांधे हुये हैं; किन्तु मुझे आपको राजोचित उच्च आसन पर विराजमान देखकर ही प्रसन्नता होती है।" उच्च महात्मा की इस आर्य-पटुता से सम्मुख बैठे राठौर वंशीय सरदार धन्य-धन्य कह उठे। नरेन्द्र यशवन्तसिंह जी ने निवेदन किया—पूज्ययते! अपने मध्य आपको स्थित देखकर हम बहुत गौरवान्वित हुये हैं। आशा है, प्रति-दिन आपका करुणामय कर हमारे सिर पर बना रहेगा।

महर्षि का जोधपुर में पद-निक्षेप हुआ ही था कि वृटिश प्रशासक प्रभु-सत्ता से राज्य के एक आवश्यक अन्तरङ्ग विषय पर जोधपुर नरेन्द्र की सेवा में एक चिट्ठी पहुंची। उन्होंने परामर्श करने के लिये उसे राज्य सभा में भेज दिया और उसका विषय महर्षि के भी कानों में डाल दिया। पत्र में कुछ कूटनीतिक चाल थे, जिन्हें ऋषिराज ताड़ गये। उन्होंने उस विषय में नरेन्द्र को ऐसे सुझाव राज्य के हित में दिये जो वृटिश शासन के प्रतिकूल पड़ते थे। जोधपुर भूपति को भी देश सुधारक का वह परामर्श चातुरीपूर्ण प्रतीत हुआ और उन्होंने पत्र का उत्तर उनके अनुसार ही भिजवा दिया।

यतिकुल दिवाकर दयानन्द के व्याख्यानों का सुप्रबन्ध उनके आवास पर ही कर दिया गया था। राव राजा तेजसिंह जी ने निवेदन किया—पूज्य स्वामिन्! राजाधिराज के रहन-सहन की आलोचना आप व्याख्यानों में न कीजिएगा।

"मैं जो कुछ कहूंगा, सत्य ही कहूंगा, अपने पर वचनाघात होता देख श्री दयानन्द जी आगे बोले—"मेरा कथन सभ्यता पूर्ण ही होता है। किसी व्यक्ति विशेष पर मैं कर्णकटु आलोचना कभी नहीं करता।"

राव तेजसिंह जी ने श्री चरणों में शिर टेक दिया और उनके साथ ही व्याख्यान मञ्च पर पहुंचे। व्याख्यान स्थल पर नरपति यशवन्तसिंह से अतिरिक्त सभी उच्च पदाधिकारी राज्यकर्मचारी, श्रेष्ठी आदि वर्तमान थे। महर्षि ने 'ओ३म्' का नाद गुंजा कर अपना भाषण आरम्भ कर दिया। पुराणों की चटपटी आलोचना सुन नगरवासियों के कान खड़े हो गये। सबने मिलकर गणेशपुरी नामक विद्वान् संन्यासी को उत्तर देने के लिये उत्तेजित किया; पर वे उन के तर्कों के सम्मुख टिके रहने में अशक्य थे। बोले—"दयानन्द जी से शास्त्रार्थ करने

का सामर्थ्य मुझ में नहीं है।" जब पण्डितों ने विशेष बल दिया, तो वे अपना विष्टर गोल करके नौ दो ग्यारह हो गये।

प्रशासन द्वारा प्रत्युपराज को लिखा गया कि जोधपुर राज्य के अन्तरङ्ग विषय पर जो उत्तर यहां भेजा गया है, वह बहुत-ही सूझबूझ का है। जहां बैठकर पत्र की पङ्क्तियां लिखी गई हैं, उस दरबार का चित्र भेजिए।

व्याख्यानों से भिन्न समय में महर्षि राज्य कर्मचारियों तथा राज परिवार में भी सत्सङ्ग लगाते थे। एक दिन महाराज प्रतापसिंह जी ने पूछा, "प्रभो! आप जीव हैं वा ब्रह्म?" सत्यवादी ने दृढ़ता से कहा, "मैं जीव हूँ और आप भी सब जीव हैं।" उन्होंने पुनः निवेदन किया, "हमें तो अभी तक शास्त्र पण्डितों ने बताया है कि हम सब ब्रह्म हैं।" श्री दयानन्द बोले : यदि आप ब्रह्म होते, तो जो गुण ब्रह्म के वर्णन किये जाते हैं, आप में भी दीख पड़ते। उसके सर्वज्ञ आदि गुण मनुष्यों में कहां हैं?

वे पुनः पूछ उठे "कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे हम जैसे व्यक्ति भी वासनापाश को शिथिल करके कैवल्य प्राप्त कर सकें।" यथार्थवक्ता ने गम्भीर मुद्रा में कहा : आप महाशयों के अपने कर्म तो भवभञ्जक नहीं हैं; पर यदि आप प्रजा का पालन कर्त्तव्य परायण होकर न्याय सङ्गत करें, तो यह भी निर्लेप कर्म बनता हुआ निर्वाण पद प्राप्त करा देगा।

प्रतापसिंह जी ने महर्षि को एक दिन अपना दुर्ग दिखाया। उन्होंने चित्रों को देखते ही कहा : टुक इस छवि की छटा तो देखिए, आपके पुरातन पुरुषों के मुखों पर कैसा ओजस् और गौरव बोलता था। ये रूपचित्र स्वयं ही अपनी वीरता दिखा रहे हैं।

प्रत्युपराज द्वारा भेजे गए उत्तर से भारतीय कार्यालय लन्दन की सन्तुष्टि न हुई। उसने सीधा जोधपुर नरेश को लिखा कि इतना बुद्धिगम्य परामर्श भारतवासी के किस मस्तिष्क की उपज है? श्री यशवन्तसिंह जी ने प्रशंसा में आकर अपने सरल स्वभाव से लिखा कि आजकल हमारे मध्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती विद्यमान हैं। हम उन्हें अपना गुरु समझते हैं। अपने राजकीय कार्यों में हम उनके सुझावों से पर्याप्त लाभ उठा रहे हैं।

अपनी वक्तृता में एक दिन महर्षि ने चक्राङ्कितों को अपने तर्क चक्र पर चढ़ाकर घुमा डाला। उनके मन्तव्यों को मिथ्या अमूलक प्रमाणित कर कहीं भी तो प्रतिष्ठा लाभ का अवसर न आने दिया। प्रतिशोध की उमंगें प्रतिस्पर्धियों के

चित्तों पर आकर विचलित हो जाती थीं। अन्त में उन सब की दृष्टि श्रीराम चक्राङ्कित पर टिकी और वह शास्त्र समर में महर्षि को परास्त करने के लिए धोती बढ़ाने लगा; किन्तु जब उसने महता विजयसिंह जी को ही निर्णायक बनाने की संविदा प्रस्तुत की, तो महर्षि ने कहा, "विजयसिंह संस्कृत के विद्वान् नहीं हैं, मध्यस्थता के लिए कोई विशिष्ट पुरुष चुनिए।" श्रीराम ने इसे स्वीकार न किया और अपने चेले चांटों को उन के विरुद्ध डींगभरी बातें सुनाकर प्रवञ्चित करता रहा !

मुसलमान रुष्ट

एक दिन संन्यासिप्रवर ने मुसलमानी मान्यता पर अपना मत व्यक्त किया। उनकी अनेक कपोल कल्पित कुरान कथाओं को तर्क की कषवटी पर कसते हुए सर्वथा ही सार-हीन घोषित कर दिया। इस समीक्षा को कतिपय सत्ताधारी मुसलमान कान देकर सुन रहे थे। भैय्या फैजुल्लाखां भाड़ में उत्तप्त चने की भांति उछल कर बोला : बाबा ! मुसलमानों का यदि राज्य होता, तो आपको हम लोग आज जीवित न छोड़ते। उस समय आप मुख से ऐसे कटु वाक्य भी न निकाल पाते।

धैर्यधुरीण महर्षि ने उसे कहा—ऐसा यदि अवसर उपस्थित होता, तो मैं इस कार्य को छोड़ कर दो-चार राजपूतों की पीठ ठोकता और विरोधियों के धुर्रे उड़ा देता। ऐसा छकाता कि फिर ऐसी बातें कहने का साहस भी न करते।

एक मुसलमान युवक कृपाण की मूठ पर हाथ रखते हुये बोला–"ओ बाबा ! मुंह सँभाल कर बोल।" श्री दयानन्द जी ने अपनी दिव्य प्रभा उस पर डालते हुये कहा—भद्र ! अभी आपके दूध के दांत हैं। संसार का उतार चढ़ाव आपने अनुभव नहीं किया। यदि हम ऐसी थोथी झिड़कियों से झिझकने लगते, तो इतना बड़ा बोझा कैसे उठा सकते।

महर्षि के इन भावों से मुस्लिम सङ्घ चिड़ गया।

नरपति यशवन्तसिंह का पत्र जब विदेश पहुंचा, तो प्रशासन को गहरी चोट पहुंची। उसने भारतीय उपराज को तर्जना करते हुए लिखा कि स्वामी दयानन्द जैसे राजद्रोही को प्रचार करने के लिये क्यों छोड़ा गया। भारतीय कार्यालय में उनको विद्रोही फ़क़ीर अब से ११ वर्ष पूर्व ही अङ्कित कराया गया था। गुप्तचर विभाग की सूचनाएं भी यही दिखा रही हैं।

एक दिन आमन्त्रण पर महर्षि राजप्रासाद में पहुंचे, तो उन्होंने महाराज को 'भक्तन की पुत्री नन्ही जान वेश्या [1]' की डोली में कन्धा लगाते देखा। इस दृश्य को देखकर महर्षि का हृदय राजवर्ग के घृणापूर्ण दुष्कर्म से कसक उठा। वे उसी समय बोले—राजन्! राजा लोग सिंह समान हैं और अनेक कुलों का चक्र लगाने वाली वाराङ्गना तो कुतिया तुल्य है। राजाओं की उससे क्या तुलना। ऐसे कर्म मान मर्यादा को भङ्ग करने वाले होते हैं। इनमें फँसकर व्यक्ति अधः पतन के द्वार स्वयं खोल लेता है।

अकुलीन कुत्ती के समान अपना उपमान सुनकर नन्ही जान तड़प उठी। उसे प्रतीत होने लगा कि नरेन्द्र का प्रेम-पुष्प अब मेरे हृदय कमल पर नहीं खिलेगा; क्योंकि वे दयानन्द जी में अपनी आशाएँ गड़ाये बैठे हैं। वे मेरी अवहेलना कर सकते हैं, उनकी नहीं।

राज्य सुधारक दयानन्द ने महाराजा प्रतापसिंह जी को भी लिखा कि आप लोग सदा रोगी रहते हैं। सोलह लाख मनुष्यों से अधिक का संरक्षण भार आप महाशयों के कन्धों पर है। जब तक शरीर स्वस्थ न हो, प्रजा हित नहीं साधा जा सकता। मैं चाहता हूं कि आप लोग मुझ से अपनी दिन चर्चा सुधार लें, जिससे मारवाड़ तो क्या देशभर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जावें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में कम जन्मते हैं। वे जितना अधिक जीवें, उतनी ही देशोन्नति होती है। इस कारण आयुर्वृद्धि के लिये अवश्य ध्यान देना चाहिए। बाबा महाशय को भी यह पत्र दिखा दीजिए।

एक ओर राज्यकुलनाशिनी 'नन्ही जान' अपने गुरु शाक्त मतानुयायी गणेशपुरी के साथ मिलकर महर्षि के प्राण-हरण की ताल मेल बैठा रही थी। दूसरे ओर कलकत्ते से भारतीय उपराज का पत्र जोधपुर प्रत्युपराज को मिला, जो भारतीय कार्यालय लन्दन से भेजा गया था। तीसरे मुसलमान और चक्राङ्कित भी महर्षि के विरुद्ध होचुके थे। परस्पर की सांठ गांठ ने उनके ही विश्वस्त

---

१. भक्तन एक जाति है, जो अब भी बीकानेर (राजस्थान) मे पायी जाती है। ये पहले गाने बजाने का धन्धा किया करते थे। पश्चात् व्यसनों में फंसकर एक ऐसी जाति में परिणत हो गए, जो एक प्रकार से वेश्या के समान है। इनमें विवाह की प्रथा तो है; पर कन्या ससुराल नहीं जाती और अपने पितृगृह पर ही वेश्यावृत्ति करती है। नन्ही जान ऐसी ही भक्तन की पुत्री थी।

पाचक घौड़मिश्र उपजाति के जोशी ब्राह्मण जगन्नाथ के हाथ से दूध में संखिया मिलवाकर उन दुष्कर्मियों ने भारत के सुदिन दिखानेवाले दयानन्द को पिलवा* दिया। यह संव्वत् १९४० आश्विन कृष्णा चतुर्दशी की रात्रिवेला थी।

महर्षि दुग्ध-पान करके थोड़ी ही देर शयन कर पाये थे कि पेट पीडा के आवर्त ने उन्हें व्याकुल बना डाला और शय्या से उठकर तीन वार वमन किया। निकट सोनेवाले सेवकों को जगाकर उन्होंने कष्ट देना उचित न समझा और स्वयं ही जल लेकर कुल्ले करते रहे। कुछ विश्राम मिलने पर सोगए और प्रातः विलम्ब से उठे। उठते ही फिर उद्गिरण हुआ। उदर को सर्वथा शीघ्र स्वस्थ कर देने के लिए उन्होंने पर्याप्त जल-पान करके एक उलटी अपने आप की; फिर भी मन कच्चा होता जा रहा था। इस पर उन्होंने पर्यलिन्द के आभ्यन्तर वायु को होम कराके शुद्ध कराया; पर उनके पेट में उठा शूल शमन होने का नाम न लेता था। इसके उपरान्त महर्षि ने अजवायन का क्वाथ लिया, जिससे वेदना तो शान्त होगयी; पर अतिसार ने डेरा आ लगाया।

अन्तर्दर्शी दयानन्द ने जगन्नाथ को २०० रुपये देकर नेपाल की ओर चले जाने का आदेश दिया, जिससे उसके प्राण बच सकें। ऐसी गिरती परिस्थिति में कारागार पर नियुक्त श्री डा० सूरजमल को आहूत किया गया। उसके औषध-प्रदान से भी पेट की पीडा प्रबल ही बनी रही और मुख सूखता जा रहा था। कालकूट शरीर की रग-रग और रुधिर के अंश अंश में प्रविष्ट होकर देह को क्षार क्षार कर रहा था। अहो! यह सब होते हुए भी महर्षि का मुखमण्डल आकुलता की कला प्रकट करने में अपना अपमान समझता था।

---

* इस घटना की तथ्यता का पता लगाने के लिए स्वर्गीय पण्डित बुद्धदेव जी मीरपुरी ने राजस्थान का भ्रमण किया था, उन्होंने इस ग्रन्थ के लेखक को बताया था कि जगन्नाथ विष पिलाकर और स्वामी जी से रुपये लेकर जब शाहपुराधीश के यहाँ पहुंचा, तो उन्होंने उसे न्यायालय को सौंप दिया, जहाँ उसने अपना यह दुष्कर्म स्वीकार कर लिया। शाहपुराधीश अपने अपयश होजाने के कारण उसे किसी से मिलने नहीं दिया करते थे। पश्चात् अपने निकट से भी उसे भगा दिया। जगन्नाथ को, ऋषिभक्त श्री शाहपुराधीश ने ही स्वामी जी महाराज के साथ उनकी सेवा के लिए भेजा था। उसके इस कुकर्म से उन्हें दारुण दुःख पहुंचा। जगन्नाथ का एक पुत्र था। वह भी निधन को प्राप्त हुआ और उसका सारा ही वंश नष्ट होगया। ब्रह्महत्या का यह ही परिणाम होता है।

राजाधिराज प्रतापसिंह ने उस अधिनायक की रुग्णता का समाचार प्राप्त होते ही अज्ञानवश एक ऐसे डा० अलीमर्दान खां को भेजा, जो भक्तन की पुत्री नन्ही जान से सम्पृक्त था, अंग्रेज प्रत्युपराज से संसक्त था, महर्षि का विद्वेषी था और था महाराजा का कृपाभाजन। उस कपट यवन ने जैसे-जैसे औषध का अन्तःक्षेप (इञ्जैक्शन) किया, रोग बढ़ता चला गया। जब अत्युष्णता प्रतीत हुई, तो अलीमर्दान से महर्षि ने कहा, "ऐसा सुखद विरेचन दो, जो पाँच-छह बार में भीतर का विकार निकाल दे।" डाक्टर अलीमर्दान खां निरा छली और अनुभवहीन था। उसने सूरजमल से एकान्त में कहा, "स्वामी जी का शरीर अति बलिष्ठ है, चालीस-पचास अतिसारों से शुद्ध हो सकेगा। तस्मात्—उतनी ही मात्रा में विरेचन देना उचित है। डाक्टर सूरजमल ने दूसरे की चिकित्सा में हस्तक्षेप नहीं चाहा, इससे अलीमर्दान खां की साध पूरी हो चली। वह महाराजा को भी विश्वास में लाता रहा। विरेचक औषध से अतिरिक्त विषों के अन्तःक्षेप भी करता रहा।

महर्षि की दारुणदशा का वृत्तान्त जोधपुर से अभी बाहर तक नहीं भेजा गया था। सँव्वत् १९४० आश्विन शुक्ला एकादशी को अकस्मात् राजपूताना राज पत्र में उनकी शोचनीय अवस्था को पढ़कर अजमेर से अनेक भक्त जोधपुर पहुँचे। उसी समय मेरठ, दिल्ली, फर्रुखाबाद, लाहौर के आर्यजनों को दूरलेख भेजे गये। जब उन्होंने महर्षि का नैराश्यपूर्ण समाचार सुना, तो गाढावसाद में सबके मुख विवर्ण हो उठे। डाक्टर सूरजमल ने कहा : जोधपुर की राक्षस भूमि से महर्षि को शीघ्र निकाल दो।

अलिमर्दान खां जानता ही था कि उसके अन्तःक्षेप ने वह कार्य कर दिया है, जिसे अब कोई सुधार नहीं सकता और यहां रहते मृत्यु हो जाने का कलङ्क उसी के मत्थे मढ़ा जायेगा, यह सोच, वह बोला : आप लोगों का विचार समीचीन है। आबू पर्वत की शीतता स्वामी जी के शरीर की उष्णता को ठीक कर देगी। अब शीतल प्रदेश में ले जाना ही आपके लिये सर्वोत्तम उपचार है।
बृटिश प्रत्युराज महर्षि की प्रतिघटना से अवबुद्ध था। वह अलीमर्दान खां को पुरस्कार देता रहता था।

महाराजा जोधपुर और समस्त राजपरिवार ऋषि विशेष की रोगिता से दुःखी था। राजाधिराज ने श्री स्वामी जी से निवेदन किया : भगवन् ! यद्यपि ऐसी व्यथा में मेरे राज्य से आपका कहीं भी पधारना मेरी अपकीर्ति का द्योतक है, तथापि जैसे आपका स्वास्थ्य ठीक हो, हम उसी में प्रसन्न हैं।

महाराजा यशवन्तसिंह जी ने महर्षि के प्रस्थान अवसर पर २५०० रुपये और दो दुशाले उपहार में दिये। अपनी फलालेन की पेटी अपने हाथ से महर्षि की भुजा में बाँधी, जिससे लेटने में कष्ट न हो तथा उनके भारी देह को उठाने के लिये पालकी में ३२ कहार नियुक्त किये, जो एक बार में आठ-आठ लगते थे। इससे अतिरिक्त खस-खस के दो डेरे, एक पंखा, कुली, परिचारक और रक्षक भी साथ किये। महाराजा ने स्वयं स्वामी जी की पालकी मे कन्धा लगाया। डाक्टर सूरजमल को आबू संयान स्थात्र तक जाने का आदेश किया। महर्षि के जोधपुर छोड़ते समय राजा, राव, ठाकुर एवं प्रतिष्ठित जनों तक की आंखें आंसुओं से डबडबा रही थीं। सब के कण्ठ भारी हो गये थे।

विष के अन्तःक्षेपों से महर्षि के शरीर में इतनी उष्णता बन चुकी थी कि रात्रि की यात्रा में भी शिर पर ८ तह की पट्टियां रखते हुए आगे बढ़ रहे थे। पंखे से वायु भी सतत किया जा रहा था। इतने संरक्षण में भी वे मूर्च्छित हो रहे थे। कुछ समय के लिये जब चेतना आती, तो यकृत और अन्तड़ियों के शोथ में असह्य पीड़ा प्रतीत होती और पालकी की गति बहुत धीमी कर दी जाती। इस प्रकार उनकी पालकी पाली पहुंच पायी। वहां से संयान [1] द्वारा खारची (मारवाड़) पहुंचे। संयान में यात्रा करते हुये लोकहितैषी महर्षि अपने कम्पित कर-कमलों से अब भी पत्र आदि पर हस्ताक्षर करते चल रहे थे। खारची स्थात्र [2] पर जब उन्होंने स्वयं संयान कोष्ठ से उतरने की चेष्टा की, तो मुख पर धूप पड़ते ही वे पुनः मूर्च्छा में चले गये। चेतना-हीन दशा में ही वे आबू रोड स्थात्र पर पहुंचे।

यह अशेष सूचना जोधपुर वृटिश प्रत्युपराज को भी किसी गुप्तचर द्वारा दी जा रही थी।

आबू पर्वत से स्थानान्तरित होकर डाक्टर लछमनदास जी अजमेर जा रहे थे। उन्होंने योगी दयानन्द जी को आबू रोड पर एक औषध पिलाया, जिससे उन्होंने आंखें खोल दीं, वाणी जो रुकी पड़ी थी, वह भी खुल गयी और वे भक्तों को निहारते हुये बोले—"किसी ने मुझे अमृत पिलाया है।" संकेत पाकर ऋषिराज ने लछमनदास जी को देखा। मानो उनकी आंखें कह रही थीं—लछमनदास बहुत अच्छा है, जो तुम हमारे साथ हो।

लछमनदास अजमेर न जाकर ऋषिवर्य के साथ ही उलटे आबू पर्वत चले आये।

जोधपुर नरेश ने यहां बने अपने पर्यलिन्द [3] में महर्षि के निवास का सुचारु

---

[1] रेलगाड़ी [2] स्टेशन [3] बंगले

प्रबन्ध किया। डाक्टर लछमनदास जी के, तीन-चार दिन उपचार से महर्षि अच्छी चेतना में आगये। हिचकियां बन्ध हो गयीं। अतिसार भी तीन दिन में केवल एक ही हुआ। निद्रा ने भी उन्हें पांच घण्टे सुला कर सुधार में सहयोग दिया। उन्हें सर्वथा नीरोग बना देने के लिये श्री लछमनदास जी ने अपने कार्यालय से छुट्टी मांगी। वहां लछमनदास द्वारा स्वस्थ होते जाने के समाचार जोधपुर वृटिश प्रत्युरराज ने पहले ही भेज दिये थे। इस कारण चिकित्सालय अधिकारी डाक्टर स्पेन्सर ने उन्हें अवकाश देने से निषेध कर दिया और भिड़कते हुये कहा—इतने दिन यहां से गये हो गए। अजमेर पहुंचने न पहुंचने की कोई सूचना मिली ही नहीं। यह अवेक्षा तुम्हारे लिए अहितकारिणी होगी।

श्री लछमनदास जी ने त्याग-पत्र प्रस्तुत किया; जो स्वीकार न किया गया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मैं महर्षि को ठीक करदूं। राजकीय चिकित्सा सेवा से भले ही मैं पृथक् हो जाऊं, इसकी चिन्ता नहीं। अतः उन्होंने दूसरे बार त्याग पत्र दिया। ऋषि जीवन न चाहने वाले अंग्रेज सपेन्सर ने उसे भी अङ्गीकार न किया। ऐसी अवस्था में ऋषि ने ही उन्हें अजमेर चले जाने की प्रेरणा की। जब वे आबू छोड़ने लगे तो कहा—"स्वामी जी ! आप अजमेर ही आजाइयेगा।" उनके इस कथन पर महर्षि के नेत्र आंसुओं से भर उठे। लछमनदास जी भी अपने चक्षुः पोंछते हुये ऋषि से विदा हुए।

श्री प्रतापसिंह ने पूछा—"प्रभो ! अलीमर्दान खां ने यदि आप को विष दिया है, तो आप कह दीजिए, हम उस पर अभियोग चलाएंगे।" महर्षि ने कोई उत्तर न दिया।

महर्षि घट-घट की जानते थे। उन्हें पता था कि इस षड्यन्त्र में बहुतों का हाथ है। जिसमें वृटिश सत्ता का हाथ न्यून नहीं है। यदि तथ्य प्रकाशित कर भी दिया गया, तो कुछ बनने वाला नहीं है। मेरा शरीर टिकेगा नहीं और आर्यों के सम्मुख अनेक कठिनताएं उपस्थित हो जावेंगी, वे स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिये आगे न बढ़ सकेंगे, जो देश के लिये एक गहरा धक्का होगा। उनके मानस में भीतर ही भीतर भारत के दौर्भाग्य की एक हुक उठती रहेगी।

डाक्टर लछमनदास के चले जाने पर ऋषिद्वेषी डाक्टर स्पेन्सर ने चिकित्सा करना अपने हाथ में ले लिया। लछमनदास जी दो-तीन दिवस का औषध बनाकर छोड़ गये थे। वह न देकर अपना ही दिया, जिस से स्वास्थ्य पुनः विकृत होने लगा।

भक्तों ने निवेदन किया—"प्रभो ! अजमेर ही चलिये। लछमनदास जी की ही चिकित्सा आप के अनुकूल पड़ती है।"

शरीर इतना क्षत-विक्षत और क्षीण हो चुका था कि उसके सर्वात्मना पुनरावर्तन की सम्भावना न थी; इस कारण ऋषि ने भक्तों से अजमेर जाने का निषेध किया। पुनः आग्रह किये जाने पर वे बोले—हमारी इच्छा तो अजमेर जाने की नहीं है, परन्तु जब आप लोग यही चाहते हैं, तो चले चलेंगे।

लछमनदास जी के प्रस्थान करने के दूसरे दिन ही पांच दिन आबू पर्वत पर ठहर कर भगवान् दयानन्द ने उसे छोड़ दिया। दीपावली में केवल चार दिन शेष रह गये थे। उस समय उनके शरीर का शैथिल्य चरमसीमा पर था। मुख, जिह्वा, कण्ठ में छाले पड़े हुए थे। पानी भी कण्ठ से नीचे उतरने में क्षमता न रखता था। उठना बैठना दूसरों के सहारे हो चुका था। करवट भी दूसरे ही बदलते थे। देह में उष्ण ज्वाला प्रचण्ड थी। हाथ-पैर शीतल थे। मुख-लावण्य, आत्मा की निर्लेपता और विदेहता को प्रकटा रहा था। यात्रा की रात्रि में अन्तर्ज्वाला को शान्त करने के लिए महर्षि ने दही खा लिया। उससे उन्हें क्लोम पाक होगया। अजमेर पहुँचने पर उन्हें मसूदा के ठाकुर की कोठी में ठहराया गया। शीत प्रारम्भ हो जाने पर भी उन्हें अन्तर्दाह दग्ध कर रहा था। तब उन्होंने सब द्वार खुलवा दिये। इस आचरण ने स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ने का कार्य किया। लछमनदास जी को परिचारकों कीं यह अवेक्षा खटकी; किन्तु सेवक भी ऋषिवर्य के वचन पालक थे और क्या करते ! महर्षि अपने देह-वियोग का निश्चित काल जानते थे। उन्होंने बहुमूल्य वस्त्र पुरस्कार में डाक्टर लछमनदास को देने चाहे किन्तु उस भक्त ने निषेध करते हुए कहा, "यदि मैं धनी होता, तो इतना वित्त आपके एक-एक लोम पर न्योछावर कर देता।" महर्षि ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा, "सच्चे आर्य और आर्यसपूत ऐसे ही होते हैं।" इतने में ही दोनों की आंखों से आंसू छूट पड़े——

तीसरे दिन पण्डित गुरुदत्त जी श्री चरणों में पहुँचे। डाक्टर लछमनदास की प्रत्येक पुड़िया अमृत का काम करती थी किन्तु किया गया कुपथ्य अनेक उपद्रव खड़े कर देता था। पण्डित गुरुदत्त जी ने रात्रि का सेवा भार संभाला। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को ऋषि के काय पर नाभि तक छाले फूट निकले थे। श्वास-प्रश्वास का वेग नस-नस को हिलाता था पर श्री दयानन्द सरस्वती शान्तमना हुए मुखमण्डल से ब्राह्म तेजस् छिटका रहे थे।

अगले दिन अमावास्या मङ्गलवार को अजमेर के जानपद शल्यचिकित्सक न्यूमैन को बुलाया गया। वे केवल महर्षि के नाम से ही परिचित थे। उन्होंने अति खेद और विस्मय में कहा, कि ऐसा दारुण दुःख सहना इन्हीं का काम है। मुसलमान वैद्य पीर जी बोले : इनका देह विष-प्रयोग से फूट गया है। किसी कुलकण्टक ने कालकूट देकर अपना आत्मा काला कर लिया है। इतने हलाहल का प्रयोग होने पर ऐसा धैर्य धनी पहले नहीं देखा।

महर्षि शान्त मुद्रा में शय्या पर पड़े थे। मध्याह्न का मार्तण्ड धौंकनी के समान चलते श्वास को खींच लेने के लिए झांक रहा था; किन्तु अभी कुछ भोग शेष था। बोलने की शक्ति लौटी, कण्ठ खुला। पुरीष करने की इच्छा की। निवृत्त होकर बैठ गए और बोले, "आज इच्छानुकूल भोजन बनाइये।" इससे भक्तजनों को कुछ धीरज बंधा; पर उन्होंने तो थाल में से चने के झोल का एक चम्मच ही लिया।

समय बीतते-बीतते चार बज गये। ऋषिराज ने नापित को बुलाया। फुंसियों पर भी उस्तरा फिरवाया। क्षौर कराके नख कटवाये और गीले प्रौञ्छन से पोंछकर सहारे से बैठ गए।

शिष्य आत्मानन्द से प्रेम भरे शब्दों में बोले : वत्स शरीर क्षणभङ्गुर है। इसने तो एक दिन जाना ही है। कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए आनन्द मनाना, घबराना नहीं।

इन अप्रत्याशित वचनों को सुन आत्मानन्द जी सिसक-सिसककर रोने लगे।

शिष्य मण्डल गुरुदेव के समक्ष खड़ा उनकी मुखाकृति को एकटक देखने की चेष्टा करता; पर आंखों के आंसू बीच में आकर बाधक बन जाते थे, कभी गहन अन्धकार-सा छा जाता था।

पांच बजे थे। एक भक्त ने पूछा, "भगवन् ! अब कैसी प्रकृति है ?"

"अच्छी है, प्रकाश और अन्धकार का भाव है।"

साढ़े पांच बजते ही महर्षि ने सब द्वार खुलवा दिये और सबको पीठ पीछे खड़े होने का आदेश किया। मास, पक्ष, तिथि और वार पूछा। पण्ड्या मोहनलाल ने निवेदन किया : प्रभो ! संवत् १९४० विक्रमी का कार्तिक, कृष्णपक्ष, अमावास्या और मङ्गलवार है।

पश्चात् दिव्य दयानन्द ने ब्राह्म तेजस् की दृष्टि को चहुँ ओर घुमाया और सहसा ही वेदगान आरम्भ कर दिया......................

पण्डित गुरुदत्त कोने में खड़े इस विचित्र दृश्य को देख रहे थे, जब अन्त अवसर पर भी महर्षि के गले में, स्वर में, उच्चारण में, ध्वनि में, शब्दों में कहीं भी निर्बलता न दीख पड़ी, तब गुरुदत्त की नास्तिकता पलभर में उड़ गयी और आस्तिकता का प्रकाश चमचमा उठा।

ब्रह्मर्षि ने मन्त्रोच्चारण के पश्चात् संस्कृत वाणी में ईश-प्रार्थना की। फिर आर्यभाषा में गुणगान करते हुए भगवती गायत्री का जप आरम्भ कर दिया। उनका मुख प्रतप्त ताम्र की भांति चमक रहा था। आखें खोलीं और ब्राह्म ज्योतिः बखेरते हुये वे बोले : हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, सचमुच तेरी ही इच्छा है। प्रभो ! तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा ! मेरे परमेश्वर, तूने अच्छी लीला की।

पश्चात् उन्होंने शरीर से सारे प्राणों को खींचकर ब्रह्माण्ड में चढ़ाया और 'ओ३म्' नाद के साथ बाहर निकाल दिया.........

सायङ्काल के छह बजे थे। चिरन्तन साथी ब्रह्मर्षि वहां नहीं थे। शरीर शान्त पड़ा था, जिसे देखकर लोग रो रहे थे.........

दूसरे दिन दाहसंस्कार के लिये देह के प्रमाण से कुछ अधिक लम्बी चौड़ी वेदी बनायी गयी। दस मण पीपल की समिधा, दो मण चन्दन, चार मण घी, पांच सेर कपूर, एक सेर केसर और दो तोला कस्तूरी लेकर अन्त्येष्टि क्रिया के मन्त्रों से भगवान् दयानन्द के पाञ्चभौतिक शरीर को अग्निज्वालाओं की भेंट करते हुए पञ्चभूतों में मिला दिया।

❁ समाप्त ❁

हमारे प्रमुख प्रकाशन

क्रम	पुस्तक	मूल्य
१.	व्याकरणमहाभाष्यम्	८०.००
२.	छन्दःशास्त्रम्	२.००
३.	काव्यालंकारसूत्राणि	१.२५
४.	कारिकाप्रकाश	१.२५
५.	दयानन्दलहरी	१.२५
६.	ब्रह्मचर्यामृतम्	.५०
७.	बलिदान (सजिल्द)	१२.००
८.	आत्मानन्द जीवनज्योति	१०.००
९.	सच्चे गुरु और पारखी	१.००
१०.	रामप्रसाद बिस्मिल	.७५
११.	शेरशाह सूरी	.७५
१२.	वीरहेमू	.७५
१३.	वीर भूमि हरयाणा	४.००
१४.	शराब से सर्वनाश	.५०
१५.	ब्रह्मचर्यामृत	.३०
१६.	बाल विवाह से हानियां	.१०
१७.	स्वप्नदोषचिकित्सा	.२०
१८.	बिच्छू विष चिकित्सा	.२०
१९.	पापों की जड़ (शराब)	.२०
२०.	हमारा शत्रु (तम्बाकू)	.२०
२१.	नेत्र रक्षा	.२५
२२.	व्यायाम का महत्त्व	.२५
२३	राम राज्य कैसे हो	.२०
२४.	आसनों के व्यायाम	.६०
२५.	ब्रह्मचर्य के साधन १-२ भाग	.५०
२६.	दन्तरक्षा	.१०
२७.	व्यायाम सन्देश	१.००
२८.	स्नान, संध्या, यज्ञ	.४०
२९.	प्राणायाम	१.००
३०.	सत्संग, स्वाध्याय	.५०
३१.	भोजन	.६५
३२.	निद्रा	.४०
३३.	हित की बातें	.१५
३४.	छात्रोपयोगी विचारमाला	.६५
३५.	मनोविज्ञान तथा शिव संकल्प	१.५०
३६.	गोकरुणानिधि	.१०
३७.	संस्कार विधि	१.६५
३८.	वेद प्रवेश (१-२ खण्ड)	२.५०
३९.	पञ्चमहायज्ञ विधि की व्याख्या	१.००
४०.	हम संस्कृत भाषा क्यों पढ़ें	.५०
४१.	वैदिक धर्म परिचय	.६५
४२.	संस्कृत वाङ्मय का सं० परिचय	.५०
४३.	आर्य सामाजिक धर्म	.७५
४४.	फिट् सूत्र प्रदीप	१.००
४५.	महर्षि दयानन्द	२.२५
४६.	वेद विमर्श (प्रथम भाग)	२.००
४७.	दैनिक संध्या यज्ञ पद्धति	.१०
४८.	महर्षि दयानन्द जीवन कथा	.७५
४९.	असली अमृत गीता १ भाग	.४०
५०.	" " " २ भाग	.३०
५१.	बस्तीराम रहस्य	.४०
५२.	माया का खेल	२.५०
५३.	हरयाणे के वीर यौधेय	७.००

प्रकाशक—हरयाणा साहित्य संस्थान, पो० गुरुकुल झज्जर, रोहतक ।

हमारी विशिष्ट औषधियां

❀ नेत्र-ज्योति सुर्मा ❀

लगाइये और नेत्र ज्योति पाइये। इसके लगाने से आंखों के सब रोग जैसे आंख दुखना, खुजली, लाली, फोला, जाला, रोहे, कुकरे, पास का कम दीखना (शोर्ट साइट), दूर का कम दीखना (लांग साइट), प्रारम्भिक मोतियाबिन्द आदि दूर हो जाते हैं। आंखों के सब रोगों की रामबाण औषध है। यही नहीं किन्तु लगातार लगाने से दृष्टि (बीनाई) को तेज तथा आंखों को कमल की तरह साफ स्वच्छ रखता है। प्रतिदिन जिसने भी लगाया उसी ने मुक्तकण्ठ से इस सुर्मे की प्रशंसा की है।

मूल्य विशेष १), साधारण ५० पैसे।

❀ संजीवनी तैल ❀

मूर्च्छित लक्ष्मण को चेतना देनेवाली इतिहास प्रसिद्ध बूंटी से तैयार किया गया यह तेल घाव के भरने में जादू का काम करता है। भयकर फोड़े-फुन्सी, गले सड़े पुराने जख्मों तथा आग से जले हुए घावों की अचूक दवा है। कोई दर्द वा जलन किये बिना थोड़े समय में सभी प्रकार के घावों को भरकर ठीक कर देता है। खून का बहना तो लगाते ही बन्द हो जाता है। चोट की भयंकर पीड़ा को तुरन्त शान्त कर देता है। दिनों का काम घण्टों में और घण्टों का काम मिनटों में पूरा कर देता है।

मू०=नमूना ६५ पैसे।

❀ बलदामृत ❀

इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। हृदय और उदर के रोगों में रामबाण है, इसके निरन्तर प्रयोग से फेफड़ों की निर्बलता दूर होकर पुनः बल आ जाता है। पीनस (सदा रहने वाले जुकाम और नजले) की औषधि है। वीर्यवर्द्धक, कास (खांसी) नाशक, राजयक्ष्मा (तपेदिक), श्वास दमा के लिए लाभकारी है। रोग के कारण आई निर्बलता को दूर करती तथा अत्यन्त रक्तवर्द्धक है। निर्बलता को दूर कर बलिष्ठ व हृष्ट-पुष्ट बनाती है। यह अपने ढ़ंग की एक ही औषध है।

मूल्य-छोटी शीशी २-५० बड़ी शीशी ६)

आर्य आयुर्वेदिक रसायनशाला, गुरुकुल झज्जर, रोहतक